हिन्दू-धर्म के ज्ञान-मय क्रिया-पक्ष की शोध-पूर्ण प्रस्तुति

'कौल-कल्पतरु'

चण्डी

(सं० १६६६ वि०-सन् १६४२ ई० से प्रकाशित)

मन्त्र-कल्पतरु

(१)

'"मनो-चाञ्चल्य के कारण अथवा जीवन-धारा में क्षण-क्षण बदलते गुण-भेद से, 'विचार-लक्ष्य' तीव्र गति से समय-समय पर बदलते हैं। इससे एक लक्ष्य का विचार-प्रवाह, जीवन-धारा में स्थिर नहीं रह सकता और जीव नए-नए लक्ष्यों में बहता हुआ, नई-नई कर्म-सृष्टियों के जाल में फँस-कर बराबर दुःख पाता है। अतः 'विचार-प्रवाह' को एक समान रीति से स्थिर करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

'विचार-प्रवाह' को इच्छित काल तक, एक समान रीति से स्थिर कर सकने के अभ्यास-क्रम को 'मन्त्र-योग' कहते हैं, साथ ही इस तरह के अभ्यास-क्रम के अमुक सीमा-पर्यन्त सिद्ध होने के भाव को 'मन्त्र-सिद्धि' कहते हैं।

संक्षेप में 'मन्त्र-साधना' जीव-व्यक्तियों को श्रेय मार्ग पर ले जानेवाली प्रमुख साधना है। युक्त रीति से 'मन्त्र-जप', जीव-व्यक्ति के कल्याण का प्रधान हेतु है।"'

--गुप्तावतार बाबाश्री

यह प्रति ४-५० रु /वार्षिक मूल्य ५०) रु०

देवी-अष्टक

('चण्डी' वर्ष १ : सम्वत् १९९९ वि०—सन् १९४२ ई० में प्रकाशित)

[यह अष्टक पण्डित सुखदेव मिश्र की प्रसिद्ध रचना है। मिश्र जी अठारहवीं सदी के एक नामी कवि थे। साथ ही सिद्ध तान्त्रिक भी थे। आपका यह अष्टक अब दुर्लभ है। भक्त-जन आज भी इसका नित्य-पाठ कर लाभ उठा सकते हैं।—सं०]

*   *

(१)

गौरी तू गिरा तू मोद-रूपा मदिरा तू,
जल-थल में तू रुचिरा तू सर्वानी है।
नाक-पालिनी तू गिरिजा कपालिनी तू,
जग-वाक्-मालिनी तू महा-माया महा-वानी है।
ईश-धरनी तू चारों वेद बरनी तू,
कलि की कतरनी तू धरनी तू जग-जानी है।
द्वार परे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।

(२)

चण्डो चण्डिका तू चण्ड-मुण्ड-खण्डिका तू,
कुल वेद कण्डिका तू मण्डिका तू कवि-वानी है।
देवी तू दया तू मोद-रूपा मया तू है,
गङ्गा गोमती गया तू है तनया तू गीर्वानी है।
सब में सही है कयो रूप हो रही है,
आसमान तू मही है तू ही तेज-पौन-पानी है।
गरे परे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।

(३)

वामदेव-दारा तारा-पति-मुखी तारा तुही,
पारा की सी धारा लोक कीरति बखानी है।
छवि की छटा तू एक-जटा त्रि-जटा तू,
कुल-बधू कुलटा सुख समूहनि समानी है।

(शेष आवरण-पृष्ठ ३ पर)

कौल-कल्पतरु

चण्डी

वर्ष ५०] चैत्र, 'तारण' २०४८ वि०—अप्रैल, १९९१ [संख्या १

१ सम्पादकीय : मन्त्र-विद्या का महत्त्व २
२ दृष्ट से अदृष्ट में जाने का अभ्यास करो : श्री जरिबन्धनलाल वर्मा ३
२ राष्ट्र का वशीकरण : ब्रह्मीभूत स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज ४
४ श्रीवटुक-चालीसा : ब्रह्मचारी श्रीयमुनेश जी, विन्ध्याचल, मिर्जापुर ६
५ 'वाम-मार्ग' या 'वामाचार' का तात्पर्य ८

मन्त्र-कल्पतरु

['चण्डी' की 'स्वर्ण जयन्ती' के उपलक्ष्य में प्रकाशित विशेष लेख-माला। इसकी पृष्ठ सं० अलग है।]

१ मन्त्र, मन्त्र-योग एवं मन्त्र-सिद्धि का अर्थ : गुप्तावतार बाबाश्री १
२ मन्त्र का स्वरूप : 'कौल-कल्पतरु' पण्डित देवीदत्त शुक्ल ३
३ भारत का रहस्य : सङ्कलित ५
४ मन्त्र-साधना : 'कुल-मार्तण्ड' पण्डित योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री ६
५ मन्त्र-सिद्धान्त : श्री जरिबन्धनलाल वर्मा १०
६ मन्त्र-रहस्य : 'कौल-कल्पतरु' पण्डित देवीदत्त शुक्ल ११
७ मन्त्र-सिद्धि (१) : 'कुल-ज्योति' पण्डित कन्हैयालाल दीक्षित १७
८ मन्त्र-शास्त्र और मनो-विज्ञान : 'कुल-भास्कर' पण्डित गोविन्द शास्त्री दुगवेकर १८
९ मन्त्र-विद्या का महत्त्व : 'कौल-कल्पतरु' पण्डित देवीदत्त शुक्ल २०
१० मन्त्र-शास्त्र का तात्पर्य : 'कुल-भास्कर' पण्डित गोविन्द शास्त्री दुगवेकर २१
११ मन्त्र-सिद्धि (२) : 'कुल-ज्योति' पण्डित कन्हैयालाल दीक्षित २२
१२ अथर्व-वेद और मन्त्र-विद्या : श्रीयुत बलराम अग्निहोत्री २३

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति का मूलाधार 'मन्त्र-विद्या'

पाश्चात्य सभ्यता के अभिमानी प्रबुद्ध भारतीयों की मण्डली में यदि कोई 'मन्त्र-विद्या' की चर्चा करने का दुस्साहस करता है, तो उसका तिरस्कार-मिश्रित हँसी से ही स्वागत होता है। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य देशों में 'जादू-टोने' का जो प्रचार रहा है, उसको जिस दृष्टि-कोण से वहाँ के मनीषियों ने देखा, उसी दृष्टि-कोण से उन्होंने भारतीय 'मन्त्र-विद्या' को भी तोल डाला और घोषित कर दिया कि यह भी 'जादू-टोना' ही है ! उनके इस निश्चय को उनके भारतीय शिष्यों ने ध्रुव सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया। इन अन्ध भक्तों ने यह तक न विचार किया कि उनके गुरुओं का उक्त कथन ठीक भी है या नहीं !

यह बात दिन की तरह प्रकट है कि भारतीय 'मन्त्र-विद्या' एक भिन्न वस्तु है, जादू-टोने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। भारतीय 'मन्त्र-विद्या' भारतीय संस्कृति और सभ्यता का मूलाधार है। यही बात इस तरह भी कह सकते हैं कि वह उनका जीवन-प्राण है। 'वेद' से लेकर आधुनिक 'राम-चरित-मानस' तक उसकी व्यापकता पाई जाती है। वेदों के 'प्रणव' और 'गायत्री-मन्त्र' की महत्ता विश्वविदित है।

भारतीयों के जितने सम्प्रदाय तथा मत हैं, उन सबके मूल में 'मन्त्र' का ही चमत्कार अपना काम करता हुआ दिखाई देता है और 'योग' तथा 'ज्ञान' के मार्गों के पथिकों तक को 'मन्त्र' का आश्रय लेने को बाध्य होना पड़ता है। प्रसिद्ध 'गायत्री-मन्त्र' द्वि-जातियों के लिए अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं का अपना कोई-न-कोई अलग 'इष्ट-मन्त्र' होता है। यदि वह 'वैष्णव' हुआ तो 'विष्णु' के अष्टाक्षर मन्त्र की, यदि 'शैव' हुआ तो 'शिव' के पञ्चाक्षर मन्त्र की, यदि 'गाणपत्य' हुआ तो 'गणपति' के नवाक्षर मन्त्र की, यदि 'दुर्गोपासक' हुआ तो 'दुर्गा के अष्टाक्षर मन्त्र' या प्रसिद्ध 'नवार्ण मन्त्र' की साधना करता है। शाक्त लोग दश-महा-विद्याओं के मन्त्रों की साधना करते हैं। 'राम', 'कृष्ण' आदि देवताओं के मन्त्रों की साधना अधिक व्यापक रूप से होती है।

इस प्रकार हिन्दू लोग अपनी पारलौकिक तथा इह-लौकिक सिद्धि के लिए आदि से लेकर इति तक मन्त्रोपासक होते हैं। भारतीयों के जीवन में 'मन्त्र-विद्या' को ऐसा ही महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त है। यही कारण है कि उसका अपना एक अलग शास्त्र ही है, जो पूर्ण-रूप से वैज्ञानिक भित्ति पर स्थित है।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि पाश्चात्य सभ्यता के दूषित प्रभाव के कारण भारत की भूमि से इस 'मन्त्र-विद्या' का पठन-पाठन उठ गया है। इस भारी अभाव का यह परिणाम हुआ है कि आज भारत की पवित्र सभ्यता और संस्कृति स्वयं अपने घर में तिरस्कृत और अनादृत हो रही है और यह उसका तिरस्कार तथा अनादर स्वयं उसके अपने लोग ही कर रहे हैं, जो सचमुच ही परि-ताप की बात है।

और यह परि-ताप तब द्वि-गुणित रूप धारण कर लेता है, जब हम यह देखते हैं कि आज के स्वतन्त्र भारत में उस महान् विनाशकारी त्रुटि के दूर करने के प्रयत्न करने को कौन कहे, उल्टा ऐसा हो रहा है कि वह त्रुटि ही न मानी जाए ! यहाँ तक कि इस प्रकार के अविचार की कोई हद तक नहीं दिखाई देती। ऐसी दशा में मर्माहत होकर कितनों के मुँह से यह अपने आप ही निकल जाता है कि यह हमारी कैसी स्वाधीनता है ! हम किसलिए स्वाधीन हुए हैं ? इसीलिए न कि हम अपने-पन को अस्तित्व में लाएँ। क्या हमारे भारतीय बन्धु, जिन्हें अपनी स्वाधीनता का अभिमान है, इस महत्त्व की बात पर ध्यान देने का कष्ट करेंगे ?

दृष्ट से अदृष्ट में जाने का अभ्यास करो

जो दिखता है, वह 'दृष्ट' है। जो नहीं दिखता, वह 'अदृष्ट' है। जैसे हम 'दृष्ट' को प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे ही 'अदृष्ट' को भी देखने लगें—यही हमारे आध्यात्मिक जीवन की पहली शर्त है।

'अदृष्ट' को क्यों जानना चाहिए ? इसलिए कि वहाँ वस्तुओं के रूप का यथार्थ ज्ञान होता है। 'अदृष्ट' को देखने का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि हम अपने-आपको जड़ वस्तु न समझकर, चेतन समझने लगते हैं। 'अदृष्ट' को जानने से समस्त सांसारिक झंझटों का समुचित समाधान हो जाता है और ईश्वर - भजन के लिए 'मन' ललचाने लगता है।

'अदृष्ट' को देखने के लिए केवल यह अनुभव करने का प्रयत्न करना होता है कि सर्वत्र एक गुप्त 'शक्ति' भरी हुई है, जो विश्व के प्राणी मात्र की रक्षा और पालन करती है। "उसी 'शक्ति' की दया से मैं जीता हूँ, मेरी सभी आवश्यकताएँ वही पूर्ण करती है, वही सोते-जागते सब अवस्थाओं मेंमेरी रक्षा करती है"—हर समय, चलते-फिरते, उठते-वैठते और लेटते समय चिन्तन बराबर करते रहने से उस अदृश्य गुप्त 'शक्ति' के सान्निध्य का आभास होने लगता है। इसी को वेदान्त-दर्शन में 'ब्रह्म - स्पर्श' कहते हैं। भोगों में जितना आनन्द आता है, उससे सैकड़ों गुना अधिक आनन्द इस 'ब्रह्म-स्पर्श' में मिलता है। इसके अनुभव से समस्त मानसिक पीड़ा और अशान्ति का निवारण हो जाता है।

इस साधना से प्रत्येक क्षण किसी अदृश्य 'शक्ति' द्वारा पथ-प्रदर्शन होता रहता है, आन्तरिक शक्ति और शान्ति की प्राप्ति होती है एवं सभी प्रकार के संशय दूर हो जाते हैं।

—श्री जरिबन्धनलाल वर्मा

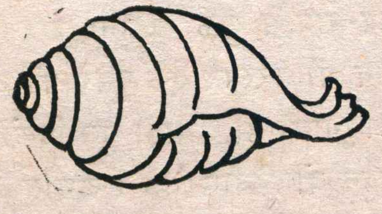

राष्ट्र का वशीकरण

समाज का आधार यद्यपि 'व्यक्ति' है, तथापि बिना 'सङ्गठन' के 'समाज' नहीं बनता। सङ्गठित व्यक्तियों का प्रथम समाज—'कुटुम्ब' कहलाता है। 'कुटुम्ब' के सञ्चालन में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वास्तव में राष्ट्र के सञ्चालन में भी उन्हीं गुणों की आवश्यकता होती है।

'कुटुम्ब' में भिन्न-भिन्न स्वार्थों का सङ्घर्ष रहता है। किसी-न-किसी तरह उस सङ्घर्ष में सामञ्जस्य बनाए रहना; छोटे-बड़े, स्त्री-पुत्र-कलत्र—सबको सन्तुष्ट रखना; सबको स्नेह के सूत्र में बाँध रखना और घर के भीतर-बाहर शान्ति बनाए रहना एक जटिल समस्या होती है। 'राष्ट्र' के सञ्चालन में भी ऐसी ही समस्याओं का पग-पग पर सामना करना पड़ता है।

हमारे शास्त्रों में 'कुटुम्ब' की रक्षा पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है और सहिष्णुता, उदारता, क्षमा, आज्ञा-पालन, सौहार्द, सौमनस्य आदि गुणों की बड़ी आवश्यकता बतलाई गई है। हमारे ऋषि-मुनियों के अनुसार 'कुटुम्ब' में, जो वास्तव में एक छोटा-मोटा 'राष्ट्र' ही है, जब तक समान मन, समान उद्देश्य नहीं बनता एवं जब तक सब स्नेह-सूत्र में बँध नहीं जाते, तब तक लौकिक या पारलौकिक किसी प्रकार का अभ्युदय असम्भव ही है।

'अथर्व-वेद' के 'सौमनस्य सूक्त' (काण्ड ३, सूक्त ३०) में 'कुटुम्ब' अथवा 'राष्ट्र' की रक्षा के लिए एक अनुष्ठान बतलाया गया है। इस सूक्त के मन्त्रों का विधि-वत् 'जप'(मनन) तथा उनके द्वारा 'हवन' और 'अभिषेक' करने से उक्त लक्ष्य की सिद्धि होती है। इन मन्त्रों का संक्षिप्त आशय इस प्रकार है—

'...हे विवाद करनेवाले मनुष्यों! मैं तुम लोगों का वैमनस्य मिटाकर सौमनस्य करता हूँ।'

'...मैं तुम्हें समान हृदय अर्थात् समान चित्त-वृत्ति एवं सम्यक् प्रीति से अच्छे पुरुषों द्वारा सम्पादित सख्य-भाव से युक्त बनाना चाहता हूँ। जैसे गौ अपने वत्स को चाहती है, वैसे ही तुम लोग भी परस्पर एक दूसरे की आभिमुख्येन कामना करो।

'...पुत्र पिता का अनुगामी हो, माता पुत्रादिकों के समान मनवाली और भार्या पति से सुख-युक्त मधुर वचन बोलनेवाली हो। अर्थात् तुम सब एक हृदय, एक - मन होकर, एक दूसरे की रुचि के अनुसार कर्म करो।'

'...जिस ब्रह्म के प्रभाव से इन्द्रादि देवताओं का परस्पर विवाद नहीं होता और वे परस्पर विद्वेष नहीं करते, उसी एक-मति के उत्पादक 'सौमनस्य मन्त्र' को तुम्हारे गृह में मैं प्रयुक्त करता हूँ।'

'...तुम लोग ज्येष्ठ-कनिष्ठ-भाव से परस्पर अनुरागवाले बनो। परस्पर वियुक्त न हो। एक दूसरे से प्रिय वाक्य बोलते हुए ही परस्पर मिलो। मैं तुम लोगों को समान कार्य में समान मन होकर प्रवृत्त करता हूँ।'

'...मैं तुम्हें एक कार्य के लिए एक-चित्त से सहोद्युक्त बनाता हूँ और एक ही प्रकार से तुम्हारो व्याप्ति या मुक्ति हो। इस 'सौमनस्य वशीकरण' से मैं तुम सबका वशीकरण करता हूँ। जैसे देवता एक-मत होकर अजरता और अमरत्व प्रदान करनेवाले अमृत की रक्षा करते हुए शोभन-मनस्क होते हैं, वैसे ही आप लोग भी सदा शुभ मनवाले बनें।'

'अथर्व-वेद' के उपर्युक्त सूक्त के प्रयोग से कुटुम्बों में 'सौमनस्य' की वृद्धि होकर राष्ट्र ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व स्नेह-पाश में बँधकर एक-मत होकर अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। सभा एवं संस्थाओं में केवल 'प्रस्ताव' स्वीकार करने की मौखिक वीरता दिखलाने से कुछ नहीं हो सकता। 'सङ्कल्प' की शक्ति बड़ी प्रबल होती है। यदि 'सौमनस्य'-मन्त्र जैसे अनुष्ठान नित्य होने लगें, तो उनका प्रभाव लौकिक परिस्थितियों पर अवश्य पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं।

प्रत्येक कुटुम्ब में, राष्ट्र में—विश्व में आज कितना विघटन हो रहा है! 'अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग'—सर्वत्र आज यही दिखलाई दे रहा है। जहाँ देखो, वहीं ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, कलह, सङ्घर्ष का साम्राज्य है। क्या कोरे उपदेशों, प्रस्तावों, पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों से उनका प्रशमन किया जा सकता है? क्या इतने दिनों का अनुभव यह सिद्ध नहीं कर रहा है कि केवल इतने ही से काम नहीं चल सकता?

हम अपने लौकिक प्रयत्नों की व्यर्थता स्पष्ट देख रहे हैं। ऐसी दशा में क्या यह उचित नहीं है कि हम लौकिक प्रयत्नों के साथ कुछ दैवी प्रयत्न करके भी देखें? यदि हमसे कठिन अनुष्ठान नहीं होते, तो क्या इतना भी नहीं बन पड़ता कि प्रति-दिन अपने श्रद्धानुसार कुछ जप, भजन, प्रार्थना 'विश्व-कल्याणार्थ' करके देखें कि उसका फल क्या होता है?

श्री बटुक - चालीसा

बटुक-नाथ मङ्गल भवन, अरु साधक सब काज।
सिद्धि-सदन रुज-दुख-हरन, जय जय जय सुर-राज।

जय जय नाथ बटुक दिग - पाला।
जिनका वाहन श्वान विशाला ।।१
कुण्डल - दण्ड - कपाल सुहाए।
कपिल-जटा शिर पर छवि पाए ।।२
ब्रह्मा - विष्णु - महेश - स्वरूपा।
तरुण-तिमिर-सम कान्ति अनूपा ।।३
बलि-भुक् प्रबल रसिक बलि-पूजा।
आशुतोष अस देव न दूजा ।।४
सब आपत्ति हरत छिन माहीं।
करत विलम्ब कभी कछु नाहीं ।।५
सात्विक - राजस - तामस ध्याना।
रोग - विनाशक वैद्य प्रधाना ।।६
बाल अबाल पराक्रम - रक्षक।
बहु धन देत दरिद्र - विमर्दक ।।७
निधि - पति भक्तन के भय -हारी।
करत समर्पित सम्पति सारी ।।८
अष्ट - मूर्ति बहु वेष बनाते।
धारण करि खट्वाङ्ग सुहाते ।।९
शत्रु- रुधिर पीते पल खाते।
देवी - मानस - पुत्र कहाते ।।१०
स्व - जन - मनोरथ पूरण करते।
वाञ्छित वरद सकल दुख हरते ।।११
सकल अर्थ - साधक बिनु बाधा।
उदधि दया के परम अगाधा ।।१२
कार्य असाध्यहु साधन - कारी।
शान्त कृपा-मय विन्ध्य - विहारी ।।१३

त्रिनयन नित्य प्रसन्न विहँसते ।
स्व-गण - समेत मशान विचरते ।।१४
नील कमल-सम मुख छवि-धामा ।
सब सुर सब मुनि करत प्रणामा ।।१५
सेवक - जन करि प्रभु - सेवकाई ।
दर्शन प्राप्त करत सुख - दाई ।।१६
भूत-नाथ भैरव बलवाना ।
छत्री - रूप विराट महाना ।।१७
पग-नूपुर की ध्वनि सुख - कारी ।
ताण्डव - नृत्य करत मन - हारी ।।१८
क्षेत्र - पाल अरु क्षेत्र - प्रदाता ।
धरणी -धर महि-पति महि-त्राता ।।१९
बटुकाराधन ब्रह्म - समाना ।
द्रुत देते इच्छित वर - दाना ।।२०
अर्थ – धर्म – मोक्षहु अरु कामा ।
इनहिं सुलभ सब भक्ति ललामा ।।२१
नित करि मधुर-मधुर मधु-पाना ।
क्रीडा करत मनोहर नाना ।।२२
यह धरि विधि-हरि-हर-अवतारा ।
सृष्टि करत पालन संहारा ।।२३
यही सिद्ध अरु सिद्धि - प्रदाता ।
शिव के प्रिय बान्धव विख्याता ।।२४
सिद्ध जनों से सेवित रहते ।
शान्ति प्रदान उनहिं नित करते ।।२५
धारण करि दानव - शिर - माला ।
शोभित होत शरीर विशाला ।।२६
त्रिभुवन - व्याप्त जगद्-गुरु-नामा ।
कटि-किङ्किणि-काञ्ची अभिरामा ।।२७
अरु अनाथ के नाथ कहाते ।
अर्ध - निशाकर शिर-छवि पाते ।।२८
षडाधार अरु अष्टाधारा ।
भक्तहिं करत भवाम्बुधि पारा ।।२९
नरकोद्धार - कुशल बहु - चातुर ।
रहत स्वजन- रक्षण में आतुर ।।३०
जन - अपराध - क्षमा द्रुत करते ।
वर देने में उत्सुक रहते ।।३१
यह मृत्युञ्जय काल - विनाशक ।
काम-विमर्दक कवि-सुर-शासक ।।३२
डिम - डिम डमरु - वाद्य बजाते ।
कर में खड्ग - त्रिशूल सुहाते ।।३३
लक्ष्मी - बीज जपत हरषाई ।
यही रमा - पति हैं सुख - दाई ।।३४
राम यही बनते हित - कारी ।
कृष्ण यही हैं विपिन - विहारी ।।३५
रवि बनि जगत प्रकाशित करते ।
चन्द्र यही बनि अमृत झरते ।।३६
बटुक-नाथ महिमा जग माहीं ।
कहि सके कोउ समर्थ नाहीं ।।३७
यही भैरवी - नाथ पुनीता ।
विघ्न हरण करि, करत अभीता ।।३८
यही शरण - दाता भगवन्ता ।
वर देते बनि तृप्त तुरन्ता ।।३९
अनिल -अनल यह शेष - प्रधाना ।
जय देते सर्वत्र महाना ।।४०

इस विधि भैरव-नाथ को, जानि भजत जो प्राणि ।
ताहि मनोरथ सिद्धि सब, करत बटुक गुण-खानि ।।
यह चालीसा बटुक का, स - रुचि लिखा 'यमुनेश' ।
पढ़ते - सुनते जो इसे, उनहिं न रहत कलेश ।।
यह रहस्य अति गुप्त है, जानत बिरलहि सन्त ।
बटुक-नाथ की ही कृपा, जिन पर होति अनन्त ।।

'वाम-मार्ग' या 'वामाचार' का तात्पर्य

पं० राजकुमार झा, परमानन्दपुर, भागलपुर (बिहार)

प्रायः अज्ञानता-वश **'वामाचार'** या **'वाम-मार्ग'** में आए **'वाम'** शब्द का तात्पर्य 'प्रतिकूल' अर्थ में लिया जाता है। तदनुसार इस 'आचार' या 'मार्ग' को अहितकर कहकर, इसकी खिल्ली भी उड़ाई जाती है। यहाँ मैं ऐसे भ्रमों को दूर करने के लिए कुछ प्रयास कर रहा हूँ। आशा है कि पाठक इस पर विचार करेंगे।

यथार्थ में **'वाम'** शब्द का अर्थ प्रिय या सुन्दर है। उदाहरण के लिए 'वामोरु', 'वाम-लोचना' आदि शब्दों में 'वाम'—शब्द सौन्दर्य-सूचक है। अतः जिस पद्धति में प्रिय और आकर्षक पदार्थों का प्रकटीकरण हो, उसी को **'वामाचार'** कहते हैं।

पाप और पुण्य की कोई भी परिभाषा रही हो, किन्तु जब तक हमारा चित्त उसमें लिप्त नहीं होता, तब तक हम उसके भागी नहीं हो सकते। इसके लिए श्रौत मार्गावलम्बी लोगों के अतिशय प्रामाणिक और आदरणीय ग्रन्थ 'श्रीमद्-भगवद् गीता' के निम्न श्लोक को देखें—

यस्य नाहं कृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

अर्थात् जिसके अन्तःकरण से कर्त्ता-पन का भाव निकला हुआ है, इस तरह का आसक्ति-हीन पुरुष समस्त जीवों को भी मारकर न तो मारता है और न मारने के पाप से बँधता है।

'दक्षिणाचारी'—भोग का निग्रह करके योग-सिद्धि का रास्ता दिखाते हैं, किन्तु **'वाम'-मार्गावलम्बी**—भोग में ही योग-सिद्धि के अनुभव का रास्ता दिखाते हैं। **'दक्षिण'-मार्गावलम्बी** शान्ति से 'क्रोध' का उन्मूलन, सन्तोष से 'लोभ' का उन्मूलन आदि बातों का उपदेश करते हैं। इसके विपरीत **'वाम'-मार्गावलम्बियों** का विश्वास है कि विरोधी वृत्तियों के उद्वेलन से 'काम-क्रोधादि' शत्रु नष्ट नहीं होंगे अपितु बढ़ेंगे। अतः **'वामाचारी'**—'क्रोध' को क्रोध से और 'लोभ' को 'लोभ' से मारने की शिक्षा तथा 'काम' को काम से मारने की शिक्षा देते हैं। अर्थात् एक **(दक्षिणाचारी)** विधि से निषेध का अति-क्रमण करता है, तो दूसरा **(वामाचारी)** निषेध से ही निषेध का अति-क्रमण सिखाता है।

संक्षेप में **'वामाचार'** में हृदय की ग्रन्थि को तोड़कर संशय, विषय का विनाश किया जाता है और संसार को निस्सार न समझकर, इसके सौन्दर्य का पूर्ण रसास्वादन किया जाता है। **वाम-मार्गी**—जगदम्बा की पूजा 'शक्ति' के रूप में करते हुए, प्रकृति के विराट् साम्राज्य में अन्तः-लीन हो जाता है। भ्रष्टों का इस मार्ग में समावेश है ही नहीं। जिसमें **'नान्यः निन्दा प्रकर्तव्या'**, **'नान्य-चर्चा कदाचन'**—का पाठ पढ़ाया जाए, उसमें कदाचारता या आसक्ति का स्थान कहाँ रह जाता है? मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि 'विधि' और 'निषेध' के पाठ को पढ़ानेवाले बड़े-बड़े तपस्वी-गण जहाँ पर विषयोन्माद में बहकर पतनाभिमुख हुए, वहीं पर **प्रकृति-सेवकों** (वाम-मार्गी) ने आसक्ति-शून्यता का अभ्यास कर अपने को 'कैवल्य-पद' का भागी बनाया है।

'वाम-मार्ग' के उपदेशानुसार सभी वस्तुएँ 'प्रसाद' !

अतः बन्धुओं! वस्तुओं में 'पदार्थ' की भावना को छोड़कर 'प्रसाद' की भावना को अपनाएँ। भ्रम का भ्रम से निवारण नहीं होता। संसार की कोई भी वस्तु पवित्र नहीं है। हाँ, 'प्रसाद' की भावना से सभी वस्तुएँ पवित्र ही नहीं, पवित्र-तम हो जाती हैं।

मन्त्र, मन्त्र-योग एवं मन्त्र-सिद्धि का अर्थ

स्थूल तत्त्वात्मक मानवीय देह में, बुद्धि-रूप पार-दर्शक यन्त्र द्वारा उतरता हुआ, चिद्-काश-युक्त, सूक्ष्म तत्त्व-भाव-निर्मित **'मन'**—एक विचित्र रहस्य-मय वस्तु है।

योग-अनुभवी महा-व्यक्ति, इस दिव्य पदार्थ 'मन' को, स्थूल और सूक्ष्म जीवन का **'सन्धि-बिन्दु'** कहते हैं। कई उसे—**'जीवनाङ्ग-तत्त्व'** के नाम से भी जानते हैं और कई लोग उसका (मन का) नाम—**'विचार-ग्रन्थि'** बताते हैं।

दिव्य पदार्थ 'मन'—बाह्य वस्तुओं का दर्शक तथा व्यक्तित्व का मूल हेतु होने के कारण, मानव-जीवन में प्रत्येक अलौकिक अथवा अभूत-पूर्व शक्ति को उत्पन्न करनेवाला प्रधान यन्त्र है। कुछ अनुभवी व्यक्तियों ने—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः'** भी कहा है। अर्थात् मनुष्यों के लिए 'मन' ही बन्धन एवं मोक्ष का कारण है।

मानव जीवन-धारा, सूक्ष्म-तम और स्थूल-तम—इन दो बिन्दुओं के बीच विद्यमान भिन्न-भिन्न भोगों अथवा दृश्य-पटलों के मध्य प्रवाहित होता है। जीवन-धारा के विभिन्न पड़ावों पर व्यक्ति भिन्न-भिन्न दृश्य-पटलों के दर्शन के साथ ही चिद्-काश, विवेक-बुद्धि-सहित 'मन' के चारों ओर सत-रज-तम-मय चिद्-ऊर्मियों एवं पूर्व-सञ्चित कर्म-ऊर्मियों का द्रष्टा भी बनता है।

जैसे 'रेडियो'-यन्त्र विद्युत् के रूप में शब्द को फिराकर उनको पुनः उसी प्रकार शब्द-रूप में बाहर निकालता है, वैसे ही रहस्य-मय 'मन', दृष्टा से दर्शन के भाव ग्रहण कर, उनको नाना प्रकार के विचारों के रूप में बाहर निकालता है और नए-नए विचारों से बाँध देता है।

इसीलिए मनो-विज्ञान के वैज्ञानिकों ने 'मन'-रूपी रहस्य-तत्त्व का नाम 'विचारों की गठरी' रक्खा है। यह गूढ़ रहस्य-मय 'मन'-तत्त्व, जीव की तमाम शक्तियों का 'जनन-केन्द्र' और प्रत्येक प्रकार के विचार-स्फुरण का मूल यन्त्र होने के कारण, व्यक्ति के जीवन की उन्नति का प्रधान हेतु है। व्यक्तियों के लिए, दिव्य गुण-मय उच्च सत्त्व-भाव में या अन्धकार-मय तमो-भाव में चढ़ने-उतरने के लिए यह एक रहस्य-मय सीढ़ी है।

प्रत्येक व्यक्ति 'उन्नति' और 'आनन्द' चाहता है। 'आनन्द की छाया', नाना प्रकार की भ्रम-मय प्रतिच्छायायों को 'मन' के चारों ओर बहते हुए देखकर व्यक्ति 'प्रलोभन' में पड़ जाता है और उन्हें पकड़ने के लिए हवा में हाथ फैलाकर पाने की कोशिश करता है, लेकिन कुछ भी उसके हाथ नहीं आता। इसी फेर में व्यक्ति नाना प्रकार के 'दुःख-सुखादि' का अनुभव किया करता है और 'भोग', 'स्वार्थ' तथा तत्-जनित क्रिया से उत्पन्न 'कर्म-जाल' में फंस कर—१ प्रारब्ध, २ सञ्चित और ३ क्रिय-माण—इन तीन डोरों से घिसा-कटा करता है। इन सारी आपत्तियों का कारण 'मन' है। अतएव 'मन की साधना' ही उपर्युक्त आपत्तियों पर विजय प्राप्त करने का एक-मात्र मार्ग है।

जैसे एक गति-मय एञ्जिन को हस्तगत कर उसे रोकने अथवा अपनी इच्छा के अनुसार चलाने के लिए 'ब्रेक' की जरूरत रहती है, वैसे ही 'मन'—रूपी यन्त्र से प्रेरित विचारों को ब्रेक की जरूरत

पड़ती है। 'विचार' किसी-न-किसी प्रकार की 'अन्तर्ध्वनि' या 'अन्तः-शब्द' से सम्बन्ध रखते हैं। संस्कृत-भाषा में 'विचार' को **'मन्त्र'** कहते हैं।

मनो-चाञ्चल्य के कारण अथवा जीवन-धारा में क्षण-क्षण बदलते गुण-भेद से, 'विचार-लक्ष्य' भी तीव्र गति से समय-समय पर बदलते हैं। इससे एक लक्ष्य का विचार-प्रवाह, जीवन-धारा में स्थिर नहीं रह सकता और जीव नए-नए लक्ष्यों में बहता हुआ, नई-नई कर्म-सृष्टियों के जाल में फँसकर बराबर दुःख पाता है। अतः 'विचार-प्रवाह' को एक समान रीति से स्थिर करने की अत्यन्त आवश्यकता है। 'विचार-प्रवाह' को इच्छित काल तक, एक समान रीति से स्थिर कर सकने के अभ्यास-क्रम को **'मन्त्र-योग'** कहते हैं। साथ ही इस तरह के अभ्यास-क्रम के अमुक सीमा-पर्यन्त सिद्ध होने के भाव को **'मन्त्र-सिद्धि'** कहते हैं।

'मन्त्र-सिद्धि' को इच्छानुसार खर्च करके अभ्यासी व्यक्ति, विश्व-समाज में अलौकिक शक्तियाँ दिखा कर, इच्छित सम्मान और श्रेयत्व पा सकता है, परन्तु तत्त्व-भेद से खर्च होती हुई यह विचार-शक्ति, व्यक्ति के अस्तित्व की उन्नति या अवनति में उत्तम-रूप से साह्य-कर अथवा भयङ्कर रूप से विक्षेप-कर हो जाती है।

यथा––'मन्त्र'-रूप विचार-शक्ति **प्रभु-चिन्तन, आत्मानुभव** अथवा **दिव्येश-गुण-मनन** में स्थिर होने पर श्रेयत्व, ईश्वरत्व या महत्-पद-प्राप्ति में साह्य-कर होती है। इसके विपरीत विचार-शक्ति को **मारण, मोहन, वशीकरणादि 'षट्-कर्म'** में खर्च करने से अथवा **शापादि का भय देकर महत्त्व, श्रेयत्व आदि प्राप्ति** का प्रयत्न करने से यह शक्ति भयङ्कर तम से आवृत्त होकर, कर्त्ता का अधः-पतन करती है।

प्रभु-चिन्तन, आत्मानुभव, दिव्येश-गुण-मनन में स्थिर विचार-शृङ्खला को 'योग' द्वारा निरोधित 'मन' में फैलाकर, एकान्त आत्म-भाव उत्पन्न कर उसमें 'मन' को एकाग्र करने की प्रक्रिया को **'मन्त्र-योग-सिद्धि'** कहते हैं। दृढ़ विचार द्वारा इस अनन्त लक्ष्य को सदैव सम्मुख रखनेवाले अभ्यासी **'जीवन-मुक्त'** कहलाते हैं।

संक्षेप में 'मन्त्र-साधना' जीव व्यक्तियों को श्रेय मार्ग पर ले जानेवाली प्रमुख साधना है। युक्त रीति से **'मन्त्र-जप'**, जीव-व्यक्ति के कल्याण का प्रधान हेतु है और दिव्य गुण-तत्त्व-चिन्तन तथा सतत मनन से, 'मन्त्र' ध्याता को ध्येय-रूप बना देने में समर्थ होता है।

'मन्त्र-योग'—मनो-निवृत्ति का एक सरल-तम-उपाय है। इसमें विचार, धारणा तथा तीव्र मनन का प्राधान्य है। वर्तमान काल में **'मन्त्र-जप'** करनेवाले साधक प्रायः विफल होते हैं, कारण उन्हें मार्ग-युक्त दिशा का ज्ञान नहीं होता अथवा **मन्त्र के सत्य-रहस्य** से वे अनभिज्ञ होते हैं।

मन्त्र का स्वरूप

'मन्त्र' अर्थात् शब्दात्मक-शक्ति

'मन्त्र' का विषय लोगों को जितना अधिक अपनी ओर आकर्षित करता है, उतना ही कम उसके सम्बन्ध में समझा जाता है। साधारणतया 'मन्त्र' का अर्थ **'प्रार्थना'**, **'पूजा-कार्य में उपयोगी शब्द'**, **'रहस्यात्मक वर्ण'** आदि कहा जाता है।

'मन्त्र' एक प्रकार की शक्ति है, जिसका प्रयोग किसी भी दिशा में, किसी भी रूप में सम्भव है। मानव जीवन की रक्षा और दूसरे चमत्कारी कर्म 'मन्त्र' के प्रभाव से सम्पन्न हो सकते हैं। सारांश यह कि 'मन्त्र' एक **'शब्दात्मक शक्ति'** है।

'मन्त्र' शब्द **'मन्'** धातु से बना है, जिसका अर्थ है **'सोचना'**। विचार में निर्माण की क्षमता निहित है, इसे आधुनिक समाज ने भी स्वीकार किया है। **'विचार'**—'मन' की क्रिया है और 'मन' ही की भाँति वह एक 'शक्ति' है। **'मन्'** धातु से ही 'मनुष्य' शब्द की रचना होती है और यह एक विदित बात है कि सारी सृष्टि में मनुष्य ही विचार-शक्ति-सम्पन्न प्राणी है।

दूसरे दृष्टि-कोण से कह सकते हैं कि 'मन्त्र'—**शब्द-ब्रह्म का प्रकट स्वरूप है**। इस प्रसङ्ग में यह जानना आवश्यक है कि शब्द है क्या? 'शब्द', आकाश का गुण है और श्रवणेन्द्रिय से वह अनुभव में आता है। उसके दो भेद हैं—१ वर्णात्मक, २ ध्वन्यात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द दो वस्तुओं के परस्पर टकराने से उत्पन्न होता है और उसका कोई अर्थ नहीं होता।

नित्य सनातन वर्णात्मक शब्द

वर्णात्मक 'शब्द' में अक्षर, पद और वाक्य निहित होते हैं। इस तथ्य का कुछ-न-कुछ अर्थ है। वाक्-रूप में प्रकट होनेवाला वर्णात्मक 'शब्द' नित्य सनातन है। इसकी नित्यता इस प्रकार समझी जा सकती है कि वर्णात्मक 'शब्द' अनुभव में आने से पूर्व भी अस्तित्व में रहते हैं। वर्णात्मक 'शब्द' का अनुभव 'ध्वनि' के द्वारा होता है। यह 'ध्वनि' कण्ठ, तालु एवं जिह्वा से वायु का संघर्षण होने पर उत्पन्न होती है। संघर्षण-जनित यह 'ध्वनि' वर्णात्मक 'शब्द' नहीं है, अपितु यह उस 'शब्द' के प्रागटच में निमित्त भर होती है। वागेन्द्रियों के वायु के सम्पर्क में आने पर वर्णात्मक 'शब्द' मानसिक क्रिया या भावना के अनुरूप निर्मित 'ध्वनि' के माध्यम से प्रकट होता है।

वर्णात्मक 'शब्द' वक्ता की इच्छा-द्वारा सुनने योग्य 'ध्वनि' में रूपान्तरित होता है। इस रूपान्तरण को 'अनित्य' माना जा सकता है, क्योंकि जो 'ध्वनि' भावनाओं को भाषा में व्यक्त करती है, वह स्वयं अनित्य है, परन्तु वर्णात्मक 'शब्द' अपने-आप में नित्य ही हैं। जिस समय इसे अनुभव किया जाता है, उसी समय इसकी उत्पत्ति होती हो, ऐसा नहीं है। अपितु उस समय 'ध्वनि'-द्वारा उसका व्यक्तीकरण मात्र होता है। वह जिस प्रकार बाद में अनुभव में आता है, उसी प्रकार पहले भी वर्तमान रहता है।

इस बात को और भी समझने के लिए, उस 'घट' का दृष्टान्त दिया जा सकता है, जो किसी अँधेरे कमरे में रक्खा हो और जिसका व्यक्तीकरण एक 'दीपक' के सहारे किया जाए। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'दीपक' द्वारा प्रकाश में आने से पूर्व भी 'घट' वहाँ विद्यमान था और 'दीपक' के हट जाने पर भी वह वहीं वर्तमान रहेगा।

इसी प्रकार वागेन्द्रियों के सम्पर्क में आकर वायु 'शब्द' को वर्णाक्षरों के रूप में प्रगट करती है। उन्हीं अक्षरों से शब्दों और वाक्यों का निर्माण होता है। बोलने की इच्छा से व्यक्ति प्रयत्न करता है और 'वर्णात्मक' अक्षरों का जन्म होकर सुनने योग्य 'शब्द' अस्तित्व में आता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि ध्वनि उक्त 'दीपक' के समान शब्द-रूपी 'घट' को प्रकाश में लाने का साधन मात्र है और 'ध्वन्यात्मक शब्द' से 'वर्णात्मक शब्द' का निरालापन स्पष्ट प्रतीत हो जाता है।

वर्णात्मक शब्द के चार रूप

१ परा, २ पश्यन्ती, ३ मध्यमा और ४ वैखरी

'वर्णात्मक शब्द' के चार रूप हैं—**१ परा, २ पश्यन्ती, ३ मध्यमा** और **४ वैखरी। 'परा'**-शब्द शरीर के 'मूलाधार-चक्र' में 'कुण्डलिनी' में अवस्थित है। यह निष्क्रिय 'मूल शब्द' है। जब इसमें सामान्य 'स्पन्द'-रूप क्रिया-शीलता आती है, तब यह 'पश्यन्ती' - रूप ग्रहण कर लेता है। **'पश्यन्ती'**-शब्द की स्थिति 'मूलाधार-चक्र' से 'मणिपुर-चक्र' तक व्याप्त है। इस स्थिति में 'शब्द' का सम्पर्क 'मन' से होता है। 'मणिपुर-चक्र' से लेकर हृदय तक शब्द के 'मध्यमा'-रूप की अनुभूति होती है। 'मध्यमा' के बाद 'शब्द' अपने अन्तिम रूप 'वैखरी' में प्रकट होता है, जो उच्चारित वाक्-रूप है। यह गले से उद्भूत होकर, मुख से निकलता है और उसे श्रोता कानों से सुनता है।

सारांश यह है कि 'शब्द' का 'मध्यमा'–रूप, **मानसिक क्रिया या भावना** है, जिससे प्रेरणा पाकर 'शब्द' का 'वैखरी'-रूप या 'वाणी' की उत्पत्ति होती है। इन दोनों––'मध्यमा' और 'वैखरी'-रूपों को मूल प्रेरणा 'शब्द' के 'पश्यन्ती' रूप से मिलती है, जो और कुछ नहीं, 'परा-शब्द' की सामान्य क्रिया-रूपी अवस्था है। इस प्रकार सूक्ष्म (परा) और कारण-रूप (पश्यन्ती) में शरीर में अन्तर्हित 'वाक्'–मानसिक क्रिया (मध्यमा) के सहयोग से 'भाषा' (वैखरी) को जन्म देती है। अर्थात् अन्तः-स्थित मानसिक क्रिया 'मन्त्र' अथवा 'शब्द' के सूक्ष्म स्वरूप को और उच्चारित शब्द-ध्वनि 'मन्त्र' अथवा 'शब्द' के स्थूल-स्वरूप को व्यक्त करती है।

स्थूल शब्द या 'वैखरी' या उच्चारित शब्द और उसके द्वारा व्यञ्जित स्थूल पदार्थ––सूक्ष्म शब्द एवं अर्थ की कृति मात्र है। यह कृति शब्द-ब्रह्म द्वारा, स्थूल ऐन्द्रिय अनुभव-जगत् में, सञ्चारित क्रिया से अस्तित्व में आती है। अतएव स्थूल भौतिक संसार में 'शब्द' का अर्थ है––'भाषा' अर्थात् वाक्य, शब्द और वर्ण, जो भावों के द्योतक होते हैं और 'मन्त्र' हैं।

सूक्ष्म या मानसिक जगत् में 'मध्यमा शब्द'––'मन' है, जो नाम-करण करता है। साथ ही, अर्थ भी––वही 'मन' है, जो अनुभूत स्वरूप को व्यक्त करता है। यह 'मन' की बाह्य अवस्था का परिचायक माना गया है। इस बात को और अच्छी तरह से समझने के लिए यह तुलना विचारणीय है कि 'परा'-शब्द यदि **'सुषुप्ति'** है, तो 'मध्यमा'-शब्द **'स्वप्न'** है और 'वैखरी'-शब्द है **'जाग्रदवस्था'**।

मानसिक 'अर्थ' एक प्रकार का 'संस्कार' है। इस संस्कार को उत्पन्न करनेवाला और कोई नहीं, किसी विशेष अर्थ का स्थूल या सूक्ष्म 'नाम' ही होता है। यथा--'घट' पद का उच्चारण होने पर, 'मन' में घड़े की आकृति उत्पन्न होती है। हिन्दू अध्यात्म-विज्ञान के अनुसार 'चेतना की 'हिरण्य-गर्भ' अवस्था में संस्कार-रूप शब्दों से ही मनो-मय कोष का जन्म हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार--'शब्द' नाम और 'अर्थ' (रूप) में विभाजित है। 'शब्द' और 'अर्थ' में अखण्ड सम्बन्ध है। अर्थ-हीन कोई 'शब्द' नहीं होता और शब्द-हीन कोई अर्थ नहीं होता। अतएव शब्द-सृष्टि से सुने जानेवालों शब्दों या शब्द के बाह्य स्वरूप से तात्पर्य है और अर्थ-सृष्टि से मन द्वारा अनुभूत या इन्द्रियों से देखे गए अर्थ से तात्पर्य है। मानसिक अर्थ, स्थूल अर्थ का पूर्व-स्वरूप होता है। संक्षेप में, 'मन्त्र' अर्थात् शब्द (नाम) एवं अर्थ (रूप) की अनेक विविधताएँ संसार में विद्यमान हैं और सम्पूर्ण संसार इन्हीं से रचा-बसा है।

भारत का रहस्य : 'मन्त्र-साधना'

संसार के अधिकांश लोगों की दृष्टि में 'भारत' रहस्यों का देश है। प्रश्न उठता है कि 'भारत' की वह कौन-सी बात है, जिसके कारण उसका इस प्रकार का गौरव माना जाता है?

कोई इसका श्रेय भारत की 'दार्शनिक विचार-धारा' को देते हैं, तो कोई भारत की 'योग-सम्बन्धी साधनाओं' अथवा 'श्रवण-मनन-निदिध्यासन' साक्षात्कार-करण आदि की वृत्ति' को, किन्तु इन सबसे 'भारत' के उस विलक्षण रहस्य का पूर्ण उद्घाटन नहीं होता और लोग 'रहस्य' की खोज में बराबर लगे रहते हैं।

परन्तु ऐसा नहीं है कि लोगों को उक्त 'रहस्य' का अनुसन्धान न मिला हो। अनुसन्धान तो अनेक अन्वेषकों को मिला है, पर जिन्हें मिला, उन्होंने उसे सदैव गुप्त ही रक्खा है।

जिस क्रिया के करने से साधक मानव की स्थिति पार कर जाता है और उसमें अलौकिक शक्ति आ जाती है, वही क्रिया 'भारत' को रहस्यों का देश बनाए हुए है। वह क्रिया और कुछ नहीं, एक-मात्र **'मन्त्र-साधना'** की क्रिया है, जिससे मानव कर्तुमकर्तुं समर्थ होता है और जो 'भारत' की अपनी एक विशेष थाती है तथा जिस पर 'भारत' का एकाधिकार सृष्टि के आरम्भ - काल से हो स्थापित है।

मन्त्र - साधना

'मन्त्र' अर्थात् मानसिक क्रिया

'गायत्री तन्त्र' में लिखा है कि—**'मन्त्र' वही कहा जाता है, जिसका मनन करने से जीव पाप से मुक्त होकर स्वर्ग-सुख और मोक्ष प्राप्त करता है। इसकी सहायता से चतुर्वर्ग की उपलब्धि होती है।**

अन्यत्र, 'मन्त्र' के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि—**'मन्त्र' इसलिए नाम पड़ा क्योंकि यह मानसिक क्रिया से प्राप्त होता है।**

'मन्त्र' का **'मन्'** मनन से और **'त्र'** त्राण अर्थात् संसार-बन्धन के मोक्ष से निकला है। 'मन्' और 'त्र' के संयोग से 'मन्त्र' बनता है, जो चतुर्वर्ग का आमन्त्रण करता है।

तेज या शक्ति का पुञ्ज-स्वरूप—मन्त्र

मन्त्र वर्णों से बनता है। वर्ण और उनके पारस्परिक संयोग से बने अक्षर और शब्द--ये सभी व्यक्त शब्द के स्वरूप हैं अर्थात् ब्रह्म-रूप हैं। उनमें से प्रत्येक सृष्टयात्मक शक्ति का स्वरूप है--मुख से उच्चरित, कान से श्रुत और मन से गृहीत, परन्तु साधारण-तया जिन्हें मन्त्र कहा जाता है, वे हैं--विशिष्ट ध्वनियाँ, जिनका प्रयोग पूजन और साधना में किया जाता है। इन ध्वनियों के ध्यान से अक्षरों की क्रमिक योजना होती है।

मन्त्र के वर्ण, नाद, विन्दु, स्वर और व्यञ्जन के सम्बन्ध से विभिन्न स्वरूपवाले देवताओं का निर्देश होता है। कुछ वर्णों में देवता की कुछ विभूति निहित रहती है। किसी देवता का मन्त्र वह 'वर्ण' या 'वर्णों की योजना' है, जो उस देवता को साधक की चेतना के सम्मुख प्रत्यक्ष करता है। साधक अपनी साधना की शक्ति से मन्त्र को जाग्रत कर लेता है। अतः जिस मन्त्र का जो अधिष्ठातृ-देवता होता है, उसका स्वरूप उससे प्रकट होता है।

वर्ण और स्वर की उपयुक्त क्रमिक योजना से 'मन्त्र' बनता है। इसी कारण मन्त्र का अनुवाद 'मन्त्र' नहीं रह जाता क्योंकि मन्त्रानुवाद से जो ध्वनियाँ उच्चारित की जाती हैं और सुनने में आती हैं, वे देवता का शरीर नहीं होतीं--न देवता को प्रगट कर पाती हैं। अनुवाद की दशा में मूल ध्वनि तो रह नहीं जाती, उसके स्थान में दूसरी भाषा की दूसरी ध्वनियाँ आ जाती हैं, जो संस्कृत-मन्त्र का अर्थ मात्र बुद्धि को बतलाने में समर्थ होती हैं। इससे स्पष्ट है कि मन्त्र केवल व्यक्ति-गत मनन नहीं है, अपितु वह चेतना का एक विशेष शब्द-शरीर है।

इस प्रकार कोई विशेष मन्त्र (जैसे गायत्री मन्त्र) वर्णों का केवल समूह मात्र नहीं है। अविश्वासी व्यक्ति भले किसी मन्त्र को एक विचित्र अर्थवाले वर्ण-समूह के रूप में देखे और बीज-मन्त्र को निरर्थक ही समझे, परन्तु साधक के लिए तो वह तेज या शक्ति का पुञ्ज-स्वरूप ही है। शब्दों की साधारण योजना कुछ स्थूल है। अन्यों की भाँति ये शक्ति के स्वरूप हैं, परन्तु जिस मन्त्र की चर्चा ऊपर की गई है, वह मन्त्र-रूप शक्ति का समुच्चय है।

कहावतें संसार के मनुष्यों को सूचना और परामर्श प्रदान करती हैं, जब कि 'मन्त्र' मानव से परे शक्ति को जाग्रत करते हैं। अतः एक साधारण कहावत जन्म और मृत्यु को प्राप्त होनेवाले जीव के समान है और 'मन्त्र' है—अव्यर्थ अविनाशी शब्द-स्वरूप में साक्षात् ब्रह्म। फिर मन्त्र वही वस्तु नहीं है, जो प्रार्थना का आत्म-निवेदन है। 'प्रार्थना' प्रार्थी के चुने हुए किन्हीं भी शब्दों में की जा सकती है और उसका अर्थ बिलकुल स्पष्ट होता है। जो शास्त्रीय सिद्धान्तों को नहीं जानते, वही यह समझते हैं कि 'मन्त्र' केवल देवता के प्रति प्रार्थना करने के लिए अनेक शब्दों के स्थान पर एक प्रतीक मात्र है। यदि ऐसा होता, तो शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट अविनाशी ध्वनियों की खोज किए बिना साधक अपनी ही भाषा से काम निकाल लेता।

'मन्त्र' का सार–'चित्'

'शब्द' शक्ति है। 'विश्वसार तन्त्र', अ० २ में लिखा है कि–**'मन्त्र-मय' शब्द-ब्रह्म जीव के शरीर में वर्तमान रहता है और वह जीव की शक्ति का सूक्ष्म स्वरूप है।'** जैसा कि 'प्रपञ्चसार तन्त्र' में कहा है—**'यह सारा ब्रह्माण्ड ध्वनि-रूप शक्ति से व्याप्त है। इस ध्वनि को नाद, प्राण आदि भी कहा जाता है। यदि शब्द सूक्ष्म रूप में वर्तमान न होता, तो उसके स्थूल रूप का उद्घाटन होना सम्भव नहीं था।'**

'शब्द' आकाश का गुण है, परन्तु आकाश के द्वारा उसकी उत्पत्ति नहीं होती। वह आकाश में प्रकट होता है और शब्द-स्वरूप ब्रह्म है। जिस प्रकार बाह्य शून्य मण्डल में वायु की गति से ध्वनि की लहरें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार वे जीव के शरीर के अवकाश में भी प्राण-वायु की गति और श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया से उत्पन्न होती हैं।

पहले पहल जो शब्द 'मूलाधार' में उत्पन्न होता है, वह वास्तव में जीव को जीवन प्रदान करनेवाली शक्ति है। श्वास-प्रश्वास लेता हुआ जीव एक 'महा-मन्त्र' का उच्चारण करता है। यह 'महा-मन्त्र' है—**'अजपा मन्त्र'** या 'हंसः'। इसका नाम 'अजपा' इसलिए है क्योंकि यह स्वयं स्वभावतः उच्चरित होता जाता है, जीव को उसके लिए कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ता।

यह ध्वनि की श्वास-क्रिया है, जो क्रमिक श्वास-प्रश्वास का हेतु है। चित्-शक्ति ही इस मधुर, अस्पष्ट और गुनगुनाती ध्वनि का कारण है। यह भ्रमर के गुंजन के समान प्रतीत होता है। यही ध्वनि **'परा'** है और बाद में **'पश्यन्ती'**, जिसका सूक्ष्म-रूप **'मध्यमा'** कहा जाता है और स्थूल-रूप **'वैखरी'**।

वर्ण-मयी एवं ध्वनि-मयी 'कुण्डलिनी' जीवों के शरीरों में परमात्मा का स्वरूप है। अतः समस्त मन्त्रों का सार है—'चित्', जो वर्णों, अक्षरों, शब्दों और वाक्यों के रूप में प्रगट होती है। 'वर्ण-माला' के वर्ण, जिनका नाम अक्षर है, वास्तव में अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रह्म के यन्त्र हैं। **विभिन्न देवताओं के स्वरूप में प्रकट होनेवाली 'कुण्डलिनी' का स्थूल-रूप ही समस्त मन्त्रों की अधिष्ठातृ-देवता है,** यद्यपि साधक लोग उसके सूक्ष्म-रूप को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं।

'मन्त्र' की दो शक्तियाँ

प्रत्येक मन्त्र में दो शक्तियाँ होती हैं—१ वाच्य शक्ति और २ वाचक शक्ति। प्रतिपाद्य देवता तो वाच्य शक्ति है और मन्त्र-मयी देवता है वाचक शक्ति। इस प्रकार **यदि किसी मन्त्र की देवता 'दुर्गा' है,**

तो उसकी वाच्य शक्ति होगी 'महा-माया'। अपर 'वाच्य शक्ति' निर्गुण है और 'वाचिका शक्ति' सगुण होती है। 'वाचिका शक्ति'—पूजन का आधार है और यह वह साधन एवं सहायक है, जिससे 'वाच्य शक्ति' का साक्षात्कार होता है। जब मन्त्र-स्वरूपा, मन्त्र-गर्भा सगुण 'वाचिका शक्ति' साधना-द्वारा चैतन्य होती है, तब वह परम सत्य का उद्घाटन करती है, जिससे ब्रह्माण्ड का सार और सच्चा स्वरूप प्रगट हो जाता है।

इस प्रकार दो प्रकार की शक्तियाँ हैं—१ **मन्त्र-शक्ति** और २ **साधना-शक्ति।** 'साधना-शक्ति' से मतलब उस शक्ति से है, जो साधक में साधना-द्वारा उत्पन्न होती है। **इन दोनों शक्तियों के एकत्र होने से ही 'मन्त्र-साधना' का फल मिलता है।**

साधना-शक्ति और मन्त्र-प्रक्रियाएँ

यह इस प्रकार कि साधना-द्वारा सगुण शक्ति जाग्रत होती है और उसकी पूजा की जाती है। यही सगुण देवता मन्त्र की अधिष्ठातृ दवता है, जबकि निर्गुण ईश्वर या ईश्वरी है 'वाच्य शक्ति'। मूलतः दोनों एक हैं, परन्तु जीव को अपनी त्रि-गुणात्मक प्रकृति के अनुसार पहले स्थूल-रूप का ध्यान करना ही पड़ेगा। तब वह सूक्ष्म-रूप का साक्षात्कार कर सकेगा, जो कि दूसरे शब्दों में 'मोक्ष' है।

'मन्त्रार्थ' और **'मन्त्र-प्रक्रिया'** को जाने बिना मन्त्र का उच्चारण करना, ओठों का हिलाना मात्र है और कुछ नहीं। 'मन्त्र' सोता रहता है। उसको जाग्रत करने के लिए कुछ क्रियाएँ निर्दिष्ट हैं। उन्हें कर लेने पर मन्त्र का शुद्ध उच्चारण हो पाता है। वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं--

(१) **मुख-शोधन**--देखिए 'शारदा-तिलक तन्त्र', अध्याय १०। **'प्रणव'** या 'ॐ' मन्त्र का जप। अन्य देवता के प्रसङ्ग में यह बदल जाता है। जैसे 'भैरव' के लिए है—ॐ **ह्सौः**।

(२) **जिह्वा-शोधन** - अभीष्ट एकाक्षर बीज तीन बार, प्रणव (ॐ) तीन बार, पुनः एकाक्षर बीज तीन बार--इस प्रकार बने नवाक्षर मन्त्र का सात बार जप करे।

(३) **मन्त्र-शोधन**—'अशौच' को दूर करने के लिए 'मूल-मन्त्र' को प्रणव से पुटित कर जप करना चाहिए। 'जन्म' और 'मृत्यु' - जन्य अशौच के अवसर पर मन्त्र को अशुद्धता के सम्बन्ध में देखिए 'तन्त्रसार'।

(४) **कुल्लुका**--देखिए 'शारदा-तिलक तन्त्र'। 'कुल्लुका' का जप सिर पर किया जाता है। यथा—कालिका की 'कुल्लुका'—'माया'-बीज अर्थात् **'ह्रीं'** है।

(५) **निर्वाण**--'मणिपुर-चक्र' में मातृका-वीज से पुटित मूल-मन्त्र का जप करे।

(६) **सेतु**--प्रायः महा-मन्त्र 'ॐ' या माया-वीज **'ह्रीं'** ही 'सेतु' माना गया है, किन्तु कहीं-कहीं इस नियम में अन्तर मिलता है। जैसे 'काली' का सेतु, उन्हीं का वीज **'क्रीं'** है और तारा का **'कूर्च'** अर्थात् **'हूँ'** है।

(७) **निद्रा-भङ्ग—'ईं'** से पुटित कर मूल-मन्त्र का सात बार जप करने से मन्त्र की सुप्तावस्था दूर होती है।

(८) **मन्त्र-चैतन्य** --'मणिपूर-चक्र' में मातृका-वीज से पुटित मूल-मन्त्र का जप। सहस्रार, अनाहत, मूलाधार में 'हूँ' - सहित मूल-मन्त्र का मनन। इस विधि का पालन करने से मन्त्र चैतन्य हो जाता है।

(९) **मन्त्रार्थ-भावना**—मन्त्रार्थ या मन्त्र-गत मातृका का ध्यान करना, जिससे देवता का सारा शरीर बना है।

(१०) **दीपनी**, (११) **प्राण-योग**, (१२) **योनि-मुद्रा**—'**दीपिनी**' में 'ॐ' से अभीष्ट मन्त्र को सम्पुटित कर सात बार जप किया जाता है। जहाँ 'ॐ' के स्थान पर '**ह्रीं**' का प्रयोग होता है, उसे '**प्राण-योग**' कहते हैं। '**योनि-मुद्रा**' का मतलब है—योनि-बीज (**ईं**) का दस बार जप करते हुए, मस्तक में 'गुरु' का, हृदय में 'इष्ट-देवता' का और तब मूलाधार-चक्र से मस्तक तक योनि-रूपा भगवती का ध्यान करना।

'मन्त्र' ही 'देवता' है अर्थात् 'परा-चित्-शक्ति' ही मन्त्र-रूप में प्रकट होती है। मन्त्र की 'साधना-शक्ति' से मन्त्र चैतन्य होता है। मूल रूप से शक्ति एक वही है, जो 'साधना-शक्ति' और 'मन्त्र-शक्ति'—इन दो रूपों में लक्षित होती है।

सर्व-शक्ति-मयी मन्त्र-शक्ति

'मन्त्र-शक्ति' विशेष ओजस्विनी होती है। साधक की चेतना का मन्त्र-रूपा चित्-शक्ति से ऐक्य-सम्बन्ध स्थापित होता है और भक्ति से निर्मल तथा प्रकाशित साधक के मानस के समक्ष मन्त्रार्थ-रूप देवता प्रत्यक्ष हो जाता है।

'मन्त्र' का सार यद्यपि 'चित्-शक्ति' है, तथापि 'साधना-शक्ति' का मन्त्र-शक्ति से मिलाप हुए बिना साधक को उसकी अनुभूति नहीं होती। पूजा, ध्यान और दूसरी साधनाओं में केवल साधक की साधना-शक्ति ही काम करती है, जब कि 'मन्त्र-साधना' में 'साधना-शक्ति', 'मन्त्र-शक्ति' से मिलकर क्रिया-शील होती है।

मन्त्र-शक्ति सर्व-शक्ति-मयी है और वह 'साधना-शक्ति' को, जो अपूर्ण रहती है, सामर्थ्य प्रदान करती है तथा विघ्नों का सामना करती है। 'व्यक्ति-गत शक्ति' अग्नि के समान है। जिस प्रकार वायु की तरङ्गें, जब अग्नि की लपटों को थपेड़े-पर-थपेड़े देती हैं, तब वे और प्रचण्ड हो जाती हैं, उसी प्रकार साधक की 'व्यक्ति-गत शक्ति' को जब 'मन्त्र-शक्ति' का धक्का लगता है, तब वह शीघ्रता से उत्पन्न होने लगती है।

फलतः एक सशक्त क्रिया-शील 'व्यक्ति-गत शक्ति' के सम्पर्क से मन्त्र-शक्ति दूनी प्रबलता प्राप्त करती है। 'मन्त्र' में यह प्रबल शक्ति होने से ही जीव असम्भव को भी सम्भव कर सकता है। अन्यथा जीव उस निधि को अपने प्रयत्न से प्राप्त नहीं कर पाता, जिसकी उपासना शिव तक करते हैं। 'मन्त्र' की सहायता से 'जैवी शक्ति' अर्थात् 'जीव की शक्ति'—'दैवी शक्ति' में रूपान्तरित हो जाती है, जिससे वह दैवी कार्य को भी सम्पन्न कर सकता है।

इस प्रकार 'मन्त्र'—दिव्य माँ का एक विशेष स्वरूप है और वह पराम्बा की भक्ति के द्वारा 'मन्त्र-साधना-शक्ति' से जीव में प्रकट होता है। इसी से कहा गया है—"...**'अ' से 'क्ष' तक के पचास वर्णों या मातृकाओं की माला अमर है, अनादि है, अनन्त है और साक्षात् ब्रह्म है।**" यह महद् उक्ति ही समस्त तन्त्रों का आदि है। इस 'मन्त्र-चेतना' की अनुभूति ही 'मन्त्र-सिद्धि' है।

कोई साधक यदि केवल एक 'मन्त्र' में भी पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तो सारे वेदों के पढ़ने से जो आध्यात्मिक ज्ञान मिलता है, वह उसका स्वामी हो जाता है क्योंकि 'ईश्वर-शरीर' में स्थित 'कुल-कुण्डलिनी' की ध्वनि का परिणाम ही 'वेद' है।

अतएव देवता का प्रत्यक्ष होना सत्य हो या न हो, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि 'मन्त्र' के उच्चारण मात्र से किसी फल की सम्भावना पर विश्वास करना केवल अन्ध-विश्वास ही है। न यही कहना ठीक है—कि 'मन्त्र'-जप किसी शब्द का व्यर्थ और मूर्खता-पूर्ण दुहराना मात्र है। ऐसा कहनेवाले वास्तव में 'मन्त्र' के सम्बन्ध में कुछ जानते ही नहीं हैं। केवल मनमानी बातें कहा करते हैं, जिसके लिए उन्हें लज्जित ही होना पड़ता है।

'मन्त्र'—सिद्धान्त

हमारा प्रत्येक 'विचार'—एक सृष्टि है। विचार के अनुरूप प्रत्येक 'क्रिया'—एक अनुभव है। इस क्रिया की प्रत्येक आवृत्ति, हमारे आचरण का 'बाह्य'—रूप है। जब हम अपने वर्तमान विचारों को किसी दूसरी सृष्टि के लिए उत्सर्ग करते हैं, तब हमारे 'अभ्यन्तर' स्वरूप का निर्माण होता है।

'अभ्यन्तर-स्वरूप' के निर्माण के लिए जिस प्रकार के विचार आवश्यक रहे हैं, उन्हें भारत के ऋषियों ने **'मन्त्र'** कहा है। 'मन्त्र' का स्थूल अर्थ है—**गोपनीय शब्द या वाक्य**। 'गोपनीय शब्द या वाक्य' का मनन करके अथवा उसके अनुरूप क्रिया करके हम एक विशेष अनुभव प्राप्त करते हैं। इस विशेष अनुभव का नाम है—**'विनियोग'**, जिसका स्थूल अर्थ है गोपनीय विचार की क्रिया के अनुरूप विचार अथवा प्रयोग करना।

'मन्त्र' अथवा विचार की आवृत्ति का नाम **'जप'** है। वाणी-द्वारा 'जप' अथवा आवृत्ति, निम्न श्रेणी की आवृत्ति है। आवृत्ति का मानसिक व्यापार ही श्रेष्ठ है। आवृत्ति के द्वारा 'विचार' या 'मन्त्र' शक्ति-सम्पन्न हो जाता है। शक्ति-सम्पन्न 'विचार' अथवा 'मन्त्र' की अभिव्यक्ति भी शक्ति-शालिनी होती है। इस अभिव्यक्ति को **'प्रयोग'** कहते हैं। **'मन्त्र-शक्ति'** द्वारा 'चरित्र-निर्माण' का यही रहस्य है। **'मन्त्र-बल'** से मनुष्य प्रत्येक क्रिया कर सकता है।

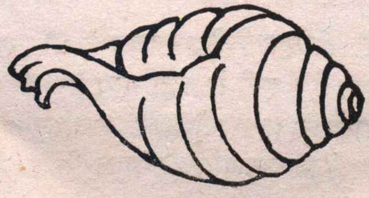

मन्त्र-रहस्य

'मन्त्र' का अर्थ गोप्य अथवा रहस्य-पूर्ण बात

'मन्त्र'-शब्द **'मन्त्र गुप्त परि-भाषणे'** धातु पर 'न्' प्रत्यय लगाने से सिद्ध होता है। व्याकरण के अनुसार यह संज्ञा तथा पुल्लिङ्ग है। इसका अर्थ गोप्य अथवा रहस्य-पूर्ण बात है।

मन्त्र के पाँच प्रकार

'मन्त्र' पाँच प्रकार के होते हैं—**१ वैदिक, २ तान्त्रिक, ३ पौराणिक ४ शाबर और ५ प्रकीर्णक।** यहाँ पर केवल वैदिक और तान्त्रिक मन्त्रों के विषय में ही कुछ कहा जाएगा। **यज्ञादि क्रिया करने के विधान-बोधक, देवादि-साधन 'गायत्री' आदि 'वैदिक वाक्य' भी 'मन्त्र'-शब्द का अर्थ है।**

वैदिक मन्त्र

'निरुक्त' के अनुसार 'वैदिक मन्त्र'—**१ परोक्ष-कृत, २ प्रत्यक्ष-कृत तथा ३ आध्यात्मिक भेद से तीन भावों में बाँटे गए हैं।** परोक्ष-कृत मन्त्रों में **देवता को परोक्ष मानकर, 'प्रथम'-पुरुष की क्रियाओं के प्रयोग-द्वारा स्तुति की जाती है।** प्रत्यक्ष-कृत मन्त्रों में— **देवता को प्रत्यक्ष मानकर, 'मध्यम पुरुष' के सर्व-नाम और क्रिया का प्रयोग कर स्तुति** करते हैं। आध्यात्मिक मन्त्रों में—**देवता का आरोप अपने में करके, 'उत्तम पुरुष' के सर्व-नाम और क्रिया के द्वारा स्तुति करने का विधान है।**

उपर्युक्त मन्त्रों के विषय प्रायः—**स्तुति, आशीर्वाद, शपथ, अभिशाप, परि-देवता और निन्दा** आदि होते हैं। 'मीमांसा' मतानुसार—**जिस 'वेद-वाक्य' के द्वारा किसी कर्म के करने की प्रेरणा पाई जाती है, वह 'मन्त्र'-पद-वाच्य है।** 'मीमांसा'-शास्त्र के प्रवर्तक, **आचार्य महर्षि जैमिनि केवल मन्त्र को ही देवता मानते हैं, मन्त्र के अतिरिक्त देवता नहीं मानते।**

'वैदिक-मन्त्र' गद्य और पद्य दोनों रूपों में पाए जाते हैं। गद्य को **'यजु'** कहते हैं और **'यजु'** की ही प्रधानता से **'यजुर्वेद'** कहलाता है। पद्य को **'ऋक्' (ऋचा)** कहते हैं और ऋचाओं की प्रधानता के कारण पद्य भाग-वाले मन्त्रों की संज्ञा **'ऋग्वेद'** हुई है। जो पद्य गाए जाते हैं, उन्हें **'साम'** कहते हैं। साम-प्रधान भाग **'साम-वेद'** के नाम से व्यवहृत होता है। इन्हीं तीन प्रकार के मन्त्रों-द्वारा यज्ञ के सर्व कर्म सम्पादित होते हैं।

वेदों का वह भाग, जिसमें मन्त्रों का संग्रह है **(मन्त्र-संहिता)**, 'मन्त्र' शब्द से कहा जाता है। **'मन्त्र' और 'ब्राह्मण'—दोनों का नाम—'वेद'** है। अतएवं 'निरुक्तकार' कहते हैं कि—**"मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेद नाम-धेयम्"**।

तान्त्रिक मन्त्र

'तन्त्र-शास्त्र' के अनुसार—**'मन्त्र' उन शब्द या वाक्यों को कहते हैं, जिनका जप भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रसन्नता अथवा भिन्न-भिन्न कामनाओं की सिद्धि के लिए करने का विधान है।** इन शब्दों और वाक्यों के उच्चारण में कोई दैवी शक्ति या प्रभाव माना जाता है।

तान्त्रिक लोग 'मन्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—'**मननात् त्रायते इति मन्त्रः' अर्थात् जो मनन करने से भक्त की रक्षा करता है।** 'मन्त्र' शब्द के 'मन्' और 'त्र' इस प्रकार दो टुकड़े करके 'कुलार्णव' के दशमोल्लास में निम्न प्रकार से व्युत्पत्ति की गई है—

मननात् तु स्वरूपस्य वेदस्यामित-तेजसः। त्रायते सर्व-भयतस्तस्मान्मन्त्र इतीरितः।

अर्थात् **अमित प्रभावशाली 'वेद' के** सार-रूप का **जिसमें मनन है और जो संसार के आवागमनादि सम्पूर्ण भयों से रक्षा करता है, उसे 'मन्त्र' कहते हैं।**

कौलिक-प्रवर श्रीभासुरानन्दनाथ (भास्कर राय भारती) 'श्रीललिता-सहस्रनाम' की व्याख्या में लिखते हैं कि—'**संसार-क्षय-कृत्-त्राण-धर्मतो मन्त्र उच्चते**।' अर्थात् **सांसारिक आवागमनादि भयों का नाश करके 'मन्त्र' भक्त की रक्षा करता है, अतः वह 'मन्त्र' कहलाता है।**

'मन्त्र' शब्द '**मनु अवबोधने**' तथा '**त्रैङ् पालने**' (रक्षा करना)—दो धातुओं से बना है तथा '**मन्त्रि गुप्त-परि-भाषणे**'—धातु से भी बना है। जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं, इसका अर्थ '**गुह्य रहस्य**' भी है।

मन्त्रा एकाक्षरा पिण्डाः, कर्तर्यो द्व्यक्षरा मताः। वर्ण-त्रयं समारभ्य, नवार्णावधि बीजकाः॥
ततो दशार्णमारभ्य, यावद् विंशति-मन्त्रकाः। तत ऊर्ध्वं गता मालास्तासु भेदो न विद्यते॥

अर्थात् एकाक्षर वाले मन्त्र '**पिण्ड**', दो अक्षर वाले '**बीज**', दश से लेकर बीस अक्षर-पर्यन्त '**मन्त्र**' और बीस से अधिक अक्षर जिन मन्त्रों में हों, वे '**माला**' कहलाते हैं।

विष्णु, शिव, गणपति और सूर्य आदि देवताओं के मन्त्रों को '**मन्त्र**' तथा दश-महा-विद्याओं और अन्य शक्तियों के मन्त्रों को '**विद्या**' कहते हैं। कहा भी है—'**पुं दैवत्यः मन्त्राः, स्त्री दैवत्या विद्या**' इति। अर्थात् 'पुरुष' **देवता वाले मन्त्र, 'मन्त्र' तथा 'स्त्री'-देवता-वाले मन्त्र 'विद्या' कहलाते हैं।**

स्त्री पुं-नपुंसकाः प्रोक्ताः, मनवस्त्रि-विधा बुधैः। वषड् नमः फडन्ताश्च पुमांसो मनवः स्मृताः॥
वौषट्-स्वाहान्तगा नार्यः, हुं नमोऽन्ता नपुंसकाः॥ (कुलागम)

अर्थात् 'मन्त्र' **१ स्त्री, २ पुरुष** और ३ नपुंसक के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। **जिन मन्त्रों के अन्त में 'वषट्** और '**फट्**' आता है, वे '**पुरुष-मन्त्र**' हैं। जैसे 'ॐ हुँ फट्'—इस मन्त्र के अन्त में फट् आया है। **जिन मन्त्रों के अन्त में 'वौषट्' अथवा 'स्वाहा'** आता है, वे 'स्त्री-मन्त्र' हैं। यथा—**ॐ ह्रीं भगवती माहेश्वरी अन्नपूर्णा स्वाहा**'—इस मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' आया है। **जिन मन्त्रों के अन्त में 'हुं' अथवा 'नमः' आता है, वे मन्त्र 'नपुंसक' हैं। जैसे 'रां रामाय नमः', 'ह्रीं शिवाय नमः'**—इन मन्त्रों के अन्त में 'नमः' आया है।

मन्त्र-शोधन

'मन्त्र'-ग्रहण करने से पूर्व गुरु-द्वारा '**मन्त्र-शोधन**' अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा 'अशुद्ध मन्त्र' के जप से सिद्धि के बदले महती हानि उठानी पड़ती है। 'मन्त्र' का संशोधन निम्नलिखित षट्-चक्रों-द्वारा होता है—**१ सिद्धयादि चक्र, २ ऋण-धन-शोधन चक्र, ३ तारा-चक्र, ४ राशि- चक्र, ५ अकडम-चक्र और ६ पञ्च-भूत चक्र।**

प्रथम चक्र **सिद्धचादि-चक्र** में–सोलह कोष्ठ होते हैं और इन कोष्ठों में मातृकाएँ विशेष क्रम से लिखी जाती हैं। इन सोलह कोष्ठों में चार-चार कोष्ठों के चार केन्द्रों के नाम—१ सिद्ध, २ साध्य, ३ सु-सिद्ध और ४ अरि होते हैं। साधक के नाम का अक्षर और मन्त्र का अक्षर यदि एक कोष्ठ में हों, तो **'सिद्ध-सिद्ध'** कहलाता है। यदि साधक नामाक्षर-कोष्ठ से मन्त्राक्षर दूसरे कोष्ठ में हो, तो **'सिद्ध-साध्य'**, तृतीय में हो, तो **'सिद्ध सु-सिद्ध'** और चतुर्थ में हो, तो **'सिद्धारि'** कहा जाता है। इसी क्रम से पुनः **साध्य-सिद्ध, साध्य-साध्य, साध्य-सु-सिद्ध** और **साध्यारि** होते हैं। पुनः **सु-सिद्ध-सिद्ध, सु-सिद्ध-साध्य, सु-सिद्ध-सु-सिद्ध** और **सु-सिद्धारि** होते हैं। पुनः **अरि-सिद्ध, अरि-साध्य, अरि सु-सिद्ध** और **अरि-अरि**—इस प्रकार सोलह कोष्ठों के सोलह भेद होते हैं।

इनमें **'सिद्धारि-मन्त्र'** बान्धवों को, **'साध्यारि'** वंशजों को, **'सु-सिद्धारि'** कुटुम्ब को, **'अरि-सिद्ध'** पुत्र को, **'अरि-साध्य'** कन्या को, **'अरि-सु-सिद्ध'** पत्नी को और **'अरि-अरि मन्त्र'** साधक को नष्ट करता है, अतः ये निषिद्ध हैं। यही सब बातें 'मन्त्र-महोदधि' तथा 'तन्त्र-सार' आदि ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक लिखी है।

'सिद्ध-सिद्ध' मन्त्र उत्तम होता है। मन्त्र-जप में संख्या नियत रहती है कि अमुक मन्त्र का इतना जप करना होगा, तब सिद्ध होगा। जैसे 'गायत्री' का बयालीस (४२) लक्ष, 'बगलामुखी' का एक लक्ष जप करने से सिद्धि होती है।

'सिद्ध-सिद्ध' मन्त्र मिलने पर जितना प्रमाण मन्त्र का कहा गया है, उतने प्रमाण में ही जपने पर सिद्धि मिल जाती है, **'सिद्ध साध्य'** मिलने पर नियत संख्या से द्वि-गुण जप में सिद्धि होती है। **'सिद्ध-सु-सिद्ध'** मिलने पर नियत संख्या के आधे जपने पर ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यथा—

सिद्ध-सिद्धो यथोक्तेन, द्वि-गुणान् सिद्ध-साध्यकः। सु-सिद्ध-सिद्धोऽर्ध-जपात्। इत्यादि।

'सिद्धारि-चक्र' की दूसरी, तीसरी और चतुर्थ रीति है, परन्तु सब रीतियों का लक्ष्य मन्त्र की शुद्धता ही है, अतएव एक ही प्रकार से कार्य सिद्ध हो जाता है।

दूसरे चक्र में, मन्त्र ऋणी है या धनी—यह बात देखी जाती है। मन्त्र का ऋणी होना अच्छा माना गया है और धनी होना बुरा। 'ऋणी-मन्त्र' शीघ्र सिद्धि देनेवाला होता है, 'धनी-मन्त्र' की सिद्धि के लिए बहुत बड़ी सेवा की आवश्यकता होती है—

ऋणित्वात् प्राप्ति-मात्रेण, मन्त्रोऽभीष्टं प्रयच्छति।
धनी-मन्त्रस्तु सम्प्राप्तः, फलत्यधिक-सेवया ॥

तृतीय चक्र में, साधक के जन्म-नक्षत्र से अथवा नाम के नक्षत्र से, मन्त्र के आद्यक्षर के नक्षत्र के साथ 'तारा-चक्र' का शोधन होता है। इनमें जन्म, सम्पद, क्षेम, साधक, मैत्री और परम मैत्री उत्तम होती हैं और विपद्, वध तथा प्रत्यरि निकृष्ट होती हैं, अतएव त्याज्य हैं।

चतुर्थ चक्र में, साधक की राशि से मन्त्र के प्रथमाक्षर-पर्यन्त 'राशि-चक्र' का शोधन किया जाता है। 'पञ्च-भूत-चक्र' में मन्त्र के आद्यक्षर तथा साधक के नामाक्षर की मैत्री का विचार होता है। इस प्रकार 'षट्-चक्र-शुद्धि' ठीक होने पर मन्त्र ग्रहण किया जाता है।

मन्त्र-दोष-निवारणार्थ अन्य उपाय

यदि षट्-चक्रों के अनुसार 'मन्त्र-शुद्धि' ठीक न हो, तो मन्त्र के दोष-निवारणार्थ, मन्त्र के आगे 'माया-बीज' (ह्रीं), 'काम-बीज' (क्लीं) और 'श्री-बीज' (श्रीं) लगा देते चाहिए। इनके लगाने से 'मन्त्र-दोष' दूर हो जाता है। यदि मन्त्र एक अथवा दो या तीन अक्षरों का है, तो तीन अक्षरों तक के मन्त्रों के लिए 'सिद्ध-साध्य' आदि कोष्ठों को नहीं देखना चाहिए। तीन से अधिक अक्षरोंवाले मन्त्रों के लिए अवश्य देखे। अथवा मन्त्र को 'प्रणव' (ॐ-कार) से सम्पुटित कर देने से भी मन्त्र निर्दोष हो जाता है। यथा—

अनेकधा शोधने चेत्, शुद्धो न प्राप्यते मनुः। मायां कामं श्रियं चैव, दद्यात् तद्-दोष-शान्तये ॥

एक-द्वि-त्रिक-वर्णानां, साध्यादीन् नैव शोधयेत्। यदा दुष्टो मनुर्जप्तः, सिध्येत् प्रणव-सम्पुटः ॥

यत्र यस्य भवेद् भक्ति-विशेषः स मनूत्तमः। वैरि-कोष्ठमपि प्राप्तोऽभीष्टदस्तस्य जायते ॥

अर्थात् जिस मन्त्र के ग्रहण करने में साधक की प्रबल इच्छा हो, वह उसके लिए सर्व-श्रेष्ठ मन्त्र है। यदि वह 'अरि-कोष्ठ-गत' भी हो, तो साधक के लिए मनोवांच्छित फल देनेवाला होता है। अतएव किसी ने ठीक कहा है—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे, दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।

कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं, जिनके शोधन की आवश्यकता नहीं है। जैसे—**एक वर्णवाले और तीन, पांच, छः, सात, नौ, ग्यारह, तीस अक्षरवाले मन्त्र, हंस-मन्त्र, वेद-मन्त्र, ॐ-कार, स्वप्न में प्राप्त मन्त्र, स्त्री से प्राप्त मन्त्र, माला-मन्त्र, नृसिंह-मन्त्र, सूर्य-मन्त्र, वाराह-मन्त्र, मातृका-मन्त्र, त्रिपुरा-मन्त्र, काम-मन्त्र, आज्ञा-सिद्धि (गणेश) मन्त्र, गरुड़-मन्त्र, बौद्ध-मन्त्र, जैन-मन्त्र** आदि का संशाधन आवश्यक नहीं है।

मन्त्र-त्याग-विधि

यदि साधक अज्ञानता के कारण दूषित मन्त्र ले लेता है और पश्चात् मन्त्र का दोष उसे विदित हो जाए, तो उसी समय साधक को 'मन्त्र' त्याग देना चाहिए। त्यागने की विधि यह है कि—**मन्त्र को भूर्ज-पत्र में लिख कर, गुरूपदिष्ट मार्ग से उसकी पूजा कर, प्रातः उसे जल-पूर्ण कुम्भ में रखकर, किसी नदी अथवा तालाब या कूप में प्रवाहित कर दे और पुनः नवीन 'शुद्ध-मन्त्र' ग्रहण करे।**

मन्त्रों के दश संस्कार

छिन्नत्वादिकं दोषाश्च, पंचाशन्मन्त्र-संस्थिताः। अतस्तद्-दोष-शान्त्यर्थं, संस्कार-दशकं चरेत् ॥

अर्थात् मन्त्रों में छिन्नत्वादि पचास दोष साधक की अज्ञानता से आ जाते हैं, अतः इन दोषों की शान्ति के लिए, 'पुरश्चरण' करने से पूर्व, मन्त्र के निम्न-लिखित **'दश संस्कार'** करने नितान्त आवश्यक हैं—

जननं जीवनं पश्चात् ताड़नं बोधनं तथा। अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायनं पुनः।
तर्पण दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्र-संस्क्रियाः ॥

(१) **जनन**——स्वर्णादि-पात्र में **'मातृका-यन्त्र'** लिखकर उससे मन्त्र का उद्धार करना चाहिए। इसको 'मन्त्रोद्धार' भी कहते हैं।

(२) **जीवन**—मन्त्र के प्रत्येक वर्ण को प्रणव (ॐ) से सम्पुटित करके सौ-सौ बार जपना।

(३) **ताड़न**—मन्त्र को लिखकर उसके प्रत्येक वर्ण को वायु-बीज (यँ) द्वारा चन्दन के जल से सौ-सौ बार ताड़न करना।

(४) **बोधन**——मन्त्र के लिखे हुए प्रत्येक वर्ण पर रक्त करवीर पुष्प से मन्त्र के जितने अक्षर हों, उतनी बार ताड़न करना।

(५) **अभिषेक**—मन्त्र के प्रत्येक वर्ण को रक्त कनेर के फूल से 'रं' बीज द्वारा अभिमन्त्रित कर यथा-विधि अभिषेक करना।

(६) **विमलीकरण**——सुषुम्ना नाड़ी में मनोयोग-पूर्वक मन्त्र का चिन्तन कर, मन्त्र के प्रत्येक वर्ण के ऊपर अश्वत्थ-पत्र पर 'ज्योति-मन्त्र'-द्वारा जल से सींचना। ज्योति-मन्त्र का उद्धार इस प्रकार है—

तारं व्योमाग्निमनु-युक्, दण्डी ज्योति-र्मनुस्मृतः अर्थात् 'ॐ ह्रौं'।

(७) **आप्यायन**--'ज्योति-मन्त्र' द्वारा सुवर्ण जल से अथवा कुशोदक से या पुष्पोदक से मन्त्र-वर्णों को सींचना।

(८) **तर्पण**—'ज्योति-मन्त्र' द्वारा जल से मन्त्र के प्रत्येक वर्ण का तर्पण करना।

मधुना शक्ति-मन्त्रेषु, वैष्णवे चेन्दुमज्जलैः। शैवे घृतेन दुग्धेन, तर्पणं शस्यमीरितम्॥

अर्थात् 'शक्ति-मन्त्र' का मधु से, 'वैष्णव-मन्त्र' का स्वच्छ जल से और 'शैव-मन्त्र' का घृत और दुग्ध से तर्पण करना चाहिए।

(९) **दीपन**—तारं (ॐ), माया (ह्रीं) और 'रमा-बीज' (श्रीं) को मन्त्र के पूर्व लगाकर मन्त्र का एक सहस्र जप करना।

(१०) **गुप्ति**——मन्त्र को प्रकट न करके सदा गुप्त रखना और ओठों के बाहर न निकालना तथा 'माया-बीज' (ह्रीं) से सम्पुटित कर एक सहस्र जप करना।

मन्त्र के उपर्युक्त दश संस्कारों को करके मन्त्री (साधक) शीघ्र ही वांच्छित वस्तु पा लेता है।

'मन्त्र' और 'देवता' की एकता

'मन्त्र-शास्त्र' में मन्त्रों की असाधारण शक्ति का वर्णन है। यह प्रसिद्ध है कि **'मन्त्राधीनाश्च देवताः'**। मन्त्रानुष्ठान से भगवती जगदम्बिका प्रसन्न होती हैं, उनको प्रसन्नता से सकल देवता वशीभूत हो जाते हैं और अष्ट-सिद्धियाँ स्वयं साधक की सेवा में उपस्थित हो जाती हैं। 'योग-शास्त्र' में कहा है——

मन्त्र-साधनतो देवा, देव्यः संयान्ति वश्यतां। विभवाश्चैव जगतो, यान्ति तस्योप-भोग्यताम्॥

अर्थात् मन्त्रानुष्ठान से समस्त देवी-देव-गण स्वतः वशीभूत हो जाते हैं और मन्त्र-सिद्धिवाले को **'भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव'** के वचनानुसार संसार के सभी ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं।

'मन्त्र-शास्त्र' में शैव, गाणपत, सौर, वैष्णव और शाक्त आदि जितने भी मन्त्र हैं, सबकी संख्या सात क्रोड़ है। अतएव **'सर्वेश्वरी सर्व-मयी, सर्व-मन्त्र-स्वरूपिणी'** इत्यादि नामों की व्याख्या में श्री भास्करानन्दनाथ लिखते हैं **'सर्वे सप्त-कोटि-संख्यक मंत्राः स्वरूपमस्याः'** अर्थात् सात करोड़ मन्त्र ही जिसका स्वरूप है, ऐसी त्रिपुरा भगवती है। 'गोपाल-सहस्र-नाम' में भी लिखा है—

'सप्त-कोटि-महा - मन्त्र-शेखरो देव-शेखरः।'

१ स्थूल, २ सूक्ष्म और ३ पर—भेद से 'देवता' के तीन रूप होते हैं। **'शान्ताकारं भुजग-शयनम्, ध्यायेन्नित्यं महेशम्, बालार्क-मण्डलाभासां** इत्यादि पद्यों से जो हम विष्णु, शिव और शक्ति का ध्यान करते हैं, वही उनके स्थूल रूप है। **'मंत्र', देवता का सूक्ष्म-रूप है और वासना-मय पर-रूप है।** 'योग-वाशिष्ठ' में लिखा है—

सामान्यं परमं चेति, द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ ! पाण्यादि-युक्तं सामान्यं, यत्तु मूढा उपासते ।।
परं रूपमनाद्यन्तं, यन्ननैकमनामयम्। ब्रह्मात्मा परमात्मादि-शब्दैनैतदुदीर्यते ।।
सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं, स्थूल-सूक्ष्म-विभेदतः।

इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट होता है कि कर-चरणादि-विशिष्ट स्वरूप देवता का स्थूल शरीर है, 'मन्त्र' सूक्ष्म शरीर और 'वासना-मय रूप' पर-शरीर है, जो ब्रह्मात्मा, परमात्मादि शब्दों से व्यवहृत होता है। 'कौलिक-प्रवर' तन्त्राचार्य श्रीभास्करानन्दनाथ श्रीललिता-सहस्र-नाम की 'सौभाग्य-भास्कर व्याख्या में लिखते हैं—

'ईदृक् प्रकाश-विमर्श-सामरस्यमापन्नाया देव्यास्त्रीणि रूपाणि स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति। कर-चरणादि-विशिष्टं 'स्थूलं', मन्त्र-मयं 'सूक्ष्मं', वासना-मयं 'परं' चेति।'

'मन्त्र' और 'देवता' के एक होने के कारण से ही 'कुलार्णव-तन्त्र' में कहा है—

गुरौ मनुष्य बुद्धिश्च, मन्त्रे चाक्षर-वाचिताम्। प्रतिमासु शिला-बुद्धिः, कुर्वाणो नरकं व्रजेत् ।।

अर्थात् गुरु को मनुष्य समझना, मन्त्र को सामान्य अक्षर समझना कि यह क्या है ? यह तो पाँच सात अक्षर जोड़ कर एक वाक्य बना दिया है और देव-प्रतिमा को शिला समझना—ये तीनों बातें साधक को नरक में ले जानेवाली हैं। अतः उपर्युक्त बातों से स्पष्ट विदित होता है कि 'मन्त्र' देवता का रूप है, मन्त्र और देवता में भेद नहीं।

'दीक्षा'-द्वारा गुरु से 'मन्त्र' प्राप्त होता है। 'गु' अन्धकार, 'रु' हटानेवाला—दोनों मिलकर **'गुरु'** शब्द बना, जिसका अर्थ हुआ **'अविद्या-रूपी अन्धकार का नाश करनेवाला।'** प्रथम **'गु-कार'** का अर्थ 'सन्' और **'रु-कार'** का अर्थ 'ज्ञान' है, अतः **'ब्रह्म-ज्ञान' करानेवाला 'गुरु' कहलाता है।** 'कुलार्णव'-तन्त्र में कहा है कि **'गुप्त' आगम और उसके मन्त्र का ज्ञान करानेवाला 'रुद्र' (शिव)-स्वरूप 'गुरु' कहलाता है।**

'सुन्दरी-तापिनी में 'गुरु', 'देवता' और 'मन्त्र'की एकता के सम्बन्ध में लिखा है—

यथा घटश्च कलशः, कुम्भश्चैकार्थ-वाचकाः। तथा मन्त्रो देवता च, गुरुश्चैकार्थ-वाचकाः ।।

अर्थात् जैसे घट, कलश और कुम्भ—ये तीनों पद पर्याय-वाचक हैं और अर्थ तीनों का एक ही है, केवल नाम से भेद है। इसी प्रकार 'मन्त्र', 'देवता' और 'गुरु'—ये तीनों एकार्थ-वाचक पद हैं। नाम में भेद

अवश्य है, किन्तु अर्थ में भेद नहीं है। जिस प्रकार 'मन्त्र' और 'देवता' एक हैं, क्योंकि 'मन्त्र' देवता का सूक्ष्म रूप है, उसी प्रकार 'गुरु' और 'देवता' भी एक हैं, क्योंकि 'गुरु'-द्वारा ही 'इष्ट-देव' का मन्त्र लोगों को ज्ञात होता है, जिससे 'ब्रह्म-ज्ञान' प्राप्त होता है। कहा भी है--

श्रीगुरोर्निश्चला भक्तिर्वर्धते हि यथा यथा। तथा तथाऽस्य विज्ञानं, वर्धते कुल-नायिके ! ॥

अर्थात् जैसे-जैसे गुरु-देव के प्रति भक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे साधक का विज्ञान भी बढ़ता जाता है। अतः 'ब्रह्म-ज्ञान' की प्राप्ति 'गुरु' और 'मन्त्र' दोनों की कृपा के बिना नहीं हो सकती। अतः जिस प्रकार 'मन्त्र' और 'देवता' एक ही हैं, उसी प्रकार 'गुरु' और 'देवता' भी एक ही हैं। अन्यत्र भी कहा है--

यथा देवस्तथा मन्त्रो, यथा मन्त्रस्तथा गुरुः। देव-मन्त्र-गुरूणां च, पूजायाः सदृशं फलम् ॥

अर्थात् जो देवता का स्वरूप है, वही मन्त्र का स्वरूप है। जो मन्त्र का स्वरूप है, वही गुरु-देव का स्वरूप है। अतएव तीनों की उपासना का फल एक ही है। इस प्रकार 'मन्त्र' और 'देवता' तथा 'गुरु' और 'देवता' तत्त्वतः एक ही हैं, केवल नाम मात्र में भेद है। इसीलिए 'गुरु-वन्दन-स्तोत्र' में **'सकल-देवता-रूपिणं'** विशेषण आया है, जिससे यही निश्चित होता है कि 'गुरु' और 'देवता' एक ही हैं।

'गुरु-चरणों' का ध्यान, 'ब्रह्मरन्ध्र' में किया जाता है और 'मूल-विद्या' का ध्यान भी 'मूलाधार' से लेकर 'ब्रह्म-रन्ध्र' तक किया जाता है। पुनः 'ब्रह्म-रन्ध्र' में गुरु और देवता की एकता का विभावन किया जाता है। यही मन्त्र-शास्त्र का रहस्य है।

'मन्त्र'-सिद्धि

(१)

प्रति मन्त्र-उच्चारण में, जैसे दो मित्रों के हृदय आलिङ्गित होने पर—उनके हृदय की ऊर्मियाँ अनुरागवती होती हैं, वैसो ही उत्कण्ठा को हृदय में जप-कर्त्ता को बढ़ाते रहना चाहिए।

आधार-चक्र पर, गुप्त स्थान के मध्य से तेज का प्रकाश बाहर फेंकते हुए—**'इष्ट-बीज'** को ऊपर उठता हुआ देखना चाहिए। **'मन्त्र-जप'** क्रमशः धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। माला फेरने में शीघ्रता न कर, अनुराग-सहित **'मन्त्र-जप'** करना चाहिए। पुरश्चरण के नियमित काल तक देवता का गुण-ध्यान करना, स्वल्पाहार करना, स्वल्प-निद्रा करना और प्रथम दिन से उत्तरोत्तर हृदयान्तर्गत देव-अन्वेषण में मुग्ध रहना चाहिए।

'मन्त्र-आराधन-काल'—में मन के सङ्कल्प-विकल्पों पर विशेष विचार करना चाहिए। **'मन्त्र-सिद्धि'** प्राप्त करनेवाले साधकों के 'आराधन-काल' में—शङ्खादि सुरीले वाद्यों का बजना, उत्तम सौभाग्यवतियों से या पूज्य वृद्धों से या राज्य-वर्ग से आशीर्वाद की प्राप्ति होना, सुन्दर स्वप्नों का दर्शन होना शुभ है। इन शकुनों से **'मन्त्र-सिद्धि'** होगी, ऐसा निश्चय होगा।

यदि मन के सङ्कल्प, स्वप्न एवं शकुन दुष्ट होने लगें, घर में झगड़ा होवे, तो 'मन्त्र' को पुनः 'संस्कार' से संस्कृत करना चाहिए। यदि इससे शुभ चिह्न दिखाई न दें, तो 'मातृका' से संस्कृत क्वाथोदक से 'अभिषेक' करना चाहिए। यदि इससे भी शुभ चिह्न दिखाई न दें, तो 'मन्त्र' को **'असाध्य मन्त्र'** समझकर उसका त्याग करना चाहिए।

मन्त्र-शास्त्र और मनो-विज्ञान

अन्तर्मुख-समाराध्या, बहिर्मुख-सुदुर्लभा।

श्री जगदम्बा के सहस्रनामों में से उक्त दो नामों में 'मन्त्र-शास्त्र' का सारा रहस्य भरा हुआ है। अध्यात्म-शास्त्र का सिद्धान्त है कि 'मन' ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। बाह्य विषयों में जब तक 'मन' फँसा रहता है, तब तक मनुष्य बद्ध है--'मन' के आत्माभिमुख होते ही वह मुक्त हो जाता है। 'आत्म-प्रवण' मन अन्तर्मुख है और 'बहिर्विषयैक-प्रवणता' उसे बहिर्मुख किए बिना हो नहीं सकती।

श्री जगदम्बा की व्यापकता असीम है और अन्तर्मुख मन की शक्तियाँ भी असीम हैं। निःसीम का अनुभव निःसीम ही कर सकता है। बहिर्मुख मन की गति सीमित है। वह निःसीम वस्तु का आकलन करने में सर्वथा असमर्थ है। 'मन्त्र-शास्त्र' वास्तव में बहिर्मुख मन को अन्तर्मुख बनाने का शास्त्र है।

मनो-विज्ञान के पाश्चात्य विद्वान् दो 'मन' मानते हैं—१ गूढ़ मन और २ बाह्य मन। पौर्वात्य विद्वानों ने भी 'मन' और 'चित्त' के रूप में दो 'मन' माने हैं। 'मन' सङ्कल्प करता है और 'चित्त' चिन्तन करता है। वास्तव में 'मन' और 'चित्त' पर्याय-वाची शब्द हैं। जब मन बाह्य विषयों में व्यस्त रहता है, तब कोरे सङ्कल्प-विकल्प किया करता है और जब आत्माभिमुख होता है, तब चिन्तन करने लगता है। 'मन्त्र-शास्त्र' की दृष्टि से दो 'मन' मानने की आवश्यकता नहीं है। एक ही 'मन' की दो अवस्थाएँ—१ अन्तर्मुखी और २ बहिर्मुखी मानने से काम बन जाता है।

'मन' की अनन्त शक्तियाँ हैं, जो प्रसुप्त अवस्था में रहा करती हैं। साधना के द्वारा जब 'मन' को अन्तर्मुखी किया जाता है, तब उसकी शक्तियाँ जाग उठती हैं और साधक उनकी सहायता से नाना प्रकार के ऐहिक और पारलौकिक सुखों—सिद्धियों—को प्राप्त कर अन्त में श्रीजगदम्बा के स्वरूप में विलीन हो जाता है। 'मन्त्र-शास्त्र' भुक्ति और मुक्ति—भोग और मोक्ष—दोनों का साधन-शास्त्र है। इसी कारण कहा जाता है कि उसमें मन को अन्तर्मुख करने की विधि बताई गई है।

प्रयोगों के द्वारा गूढ़ अर्थात् 'अन्तर्मुख मन' की अगाध शक्तियों का अब पाश्चात्य संशोधक भी अनुभव करने लगे हैं। अमेरिका के डा. हडसन उन्हीं में से एक हैं, जो आर्य मनोविज्ञान-शास्त्र के विशेषज्ञ माने जाते हैं। आपने भी दो 'मन' माने हैं। आप लिखते हैं—"बाह्य मन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के अधीन हो कर ज्ञान-लाभ करता है, परन्तु अन्तर्मन या गूढ़ मन ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के बिना ही बाह्य मन की अपेक्षा बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेता है।"

पुनर्जन्म के सिद्धान्तानुसार इसी 'गूढ़ मन' में 'सञ्चित' ज्ञान विद्यमान रहता है और यही गूढ़ या प्रसुप्त मन 'सहज ज्ञान' (इंस्टिक्ट) या 'अन्तः-स्फूर्त-ज्ञान' (इण्ट्यूशन, इंस्पिरेशन) का आधार है। बाह्य मन को शून्यावस्था में ले जाकर, समाधि लगाकर या निद्रित कर प्रसुप्त गूढ़ मन को जागृत करने से उसकी प्रचण्ड शक्तियों का अनुभव होने लगता है। सर विलियम हैमिल्टन लिखते हैं--"अन्तर्मानस के कपाट खुलते ही समस्त ज्ञान - भाण्डार के भी द्वार खुल जाते हैं।" गोस्वामी जी ने भी यही कहा है—

उघरहिं विमल विलोचन ही के। मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के ।।
सूझहिं रामचरित-मणि-माणिक। गुप्त-प्रकट जे-जे जेहि खानिक ।।

डा० हडसन का मत है कि "अन्तर्मुख गूढ़ मन अन्तः-स्फूर्ति और सुषुप्ति के कार्यों का अधिष्ठान है। वह देहातीत रह सकता है और सहस्त्रों कोसों की दौड़ लगा कर वहाँ की बातें जान सकता है। उसमें परिचित ज्ञान (टेलीपैथी), अतीत-अनागत ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान विद्यमान है। वह सोता नहीं। उसका सभी शारीरिक शक्तियों पर अधिकार होता है। हृदय की क्रिया, श्वसन-क्रिया, पाचन-क्रिया, रोग-क्रिया आदि शारीरिक क्रियाओं को वह रोक सकता है और तीव्र भी कर सकता है। ज्ञानेन्द्रियों की सब शक्तियाँ उसके अधीन होती हैं। स्थूल शरीर तो उसका एक काम-चलाऊ साधन-वाहन है। उसे उसकी विशेष आवश्यकता नहीं होती।"

परन्तु इस 'गूढ़ मन' का एक दोष भी है। वह यदि न होता, तो 'मन'—'आत्मा' ही कहलाता। 'मन' का वह दोष है—परावलम्बित्व। वह निःसीम श्रद्धालु और भोला होता है। उसे मोहिनी-विद्या, मन्त्र-विद्या या योग-क्रिया से जागृत करना पड़ता है। उसके जाग जाने पर उससे जो चाहें—काम करा सकते हैं। वह श्रद्धा-पूर्वक आपकी इच्छा के अनुसार आचार, विचार और उच्चार करने लगता है। यदि मोहिनी-विद्या-विशारद या मन्त्र-शास्त्री धूर्त हो, तो असम्भव बातों पर भी उसका विश्वास जमा देता है और तदनुसार उससे आचरण भी कराता है। अन्ततः अन्तर्मानस को इस दोष से बचाने के लिए ढोंगियों, पाखंडियों आदि से सदा सावधान रहना चाहिए। मान्त्रिक यदि स्वार्थी, वञ्चक या दुराचारी हो, तो अन्तर्मानस के द्वारा वह नाना प्रकार के अनर्थ खड़े कर देता है। उसे अत्यन्त शील-सम्पन्न और सच्चरित्र होना चाहिए। इसीलिए मन्त्र-शास्त्र 'चित्त-शुद्धि' को अग्र स्थान देता है। 'मन्त्र-शास्त्र' सदाचारियों के लिए है। सदाचारी मन्त्र-वेत्ता अपना उत्कर्ष करता हुआ जगत् का भी कल्याण कर सकता है।

हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त मन्त्रों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। हिन्दुओं का कोई संस्कार अमन्त्रक नहीं होता। हमारे पूर्वज मन्त्रों के सामर्थ्य को अच्छी तरह जानते थे परन्तु पराधीनता, प्रमाद और आलस्य के कारण हमारी संशोधन, खोज या अनुसन्धान की प्रवृत्ति ही नष्ट हो गई और हम अपने प्राचीन 'मन्त्र-शास्त्र' के प्रति केवल उदासीन ही नहीं, अपितु उसके नाम से हिचकने भी लगे हैं, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

हिन्दू धर्म-शास्त्रों के अनुसार मनन से ही 'मन्त्र की सिद्धि' होती है। 'योग-शास्त्र' में भी कहा है—**'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'**। 'मन्त्र-शास्त्र' के प्रत्येक बीज में एक विशेष अर्थ—विशेष रहस्य—भरा हुआ है। इसी से वह 'मन्त्र' कहलाता है। उस अर्थ या रहस्य की भावना करते हुए जब 'मन्त्र का जप' किया जाता है, तब साधक का 'मन' उपास्य में एकाग्र हो जाता है और 'मन' के एकाग्र होने पर उसे 'अन्तर्मुख' करना सहज हो जाता है। 'चित्त की एकाग्रता' ही 'मन्त्र-शास्त्र' का प्राण है। 'मन्त्र-शास्त्र' में विभिन्न प्रकृति के साधकों के लिए विभिन्न साधन, इसी एक लक्ष्य की सिद्धि के लिए बताए गए हैं।

मन्त्र-विद्या का महत्त्व

'बुद्धि-वादी' लोग 'मन्त्र-विद्या' को जादू-टोना बतलाकर, उसका उपहास किया करते हैं, परन्तु यह उनका अज्ञान है। वे जानकर भी जानना नहीं चाहते कि यह विद्या ही विश्व का रहस्य है।

जिनको अपौरुषेय 'वेदों' और 'तन्त्र - विद्या' पर विश्वास है, वे इस रहस्य को जानते हैं। 'वेद-विद्या' तथा 'तन्त्र-विद्या' का मेरु-दण्ड 'मन्त्र-विद्या' ही है। हमारे प्राचीन-तम जिन पूर्वजों को 'वेद-विद्या' तथा 'तन्त्र-विद्या' प्राप्त हुई थी, वे रहस्यमयी 'मन्त्र - विद्या' से भले प्रकार अवगत ही नहीं थे, अपितु उन्होंने उसकी साधना में पूर्ण सफलता भी पाई थी।

परिणाम-स्वरूप उस समय यहाँ के ब्राह्मण—'भू-सुर', क्षत्रिय—'विश्व-जित्', वैश्य—'धन-कुबेर' और शूद्र सेवा-व्रत-धारी 'सर्वोपयोगी' नागरिक हो सके थे। साथ ही, इन सबने इस सत्य का जो भव्य दर्शन किया था, उसी से भारत की भूमि में युगों तक सत्य-राज्य, राम-राज्य स्थापित रहे। इस प्रकार यह भूमि अति पवित्र बन गई।

जहाँ दिन होता है, वहाँ रात भी होती है। फलतः दुर्भाग्य से इस पवित्र भूमि में रात आ ही गई। एक ऐसा समय आया, वह समय देश की चरमोन्नति का था, अपनी उन्नति के अभिमान में आकर गृह-युद्ध में यहाँ के छोटे-बड़े कट मरे। इसका भीषण परिणाम हुआ। कोई सँभालनेवाला तो रह न गया था, अतः 'स्वेच्छाचारिता' का बोल-बाला हो गया। धर्म के क्षेत्र में 'बुद्धि-वादियों' का प्रभाव बढ़ गया।

'वेद-विद्या' सारे समाज से हटकर एक वर्ग के लोगों में जा टिकी, परन्तु 'तन्त्र-विद्या' का प्रभाव—उसकी सरलता तथा शीघ्र फल-दायिनी शक्ति के कारण—समाज के सभी आस्तिक लोगों में पहले जैसा ही बना रहा। कालान्तर में ये आस्तिक लोग 'बुद्धि-वादियों' के तर्कों के प्रभाव में आ ही गए और उनमें भी अनेक ऐसे 'बुद्धि-वादी आचार्य' पैदा हो गए, जिन्होंने देश-काल के अनुसार नए-नए नाना प्रकार के मत-मतान्तर अपने-अपने अलग-अलग खड़े किए। इन नए बुद्धि-वादी आचार्यों ने यद्यपि वेद एवं तन्त्र के आचार तथा बहुत कुछ विचार का त्याग तो किया, किन्तु 'मन्त्र-विद्या' का मोह ये भी त्याग न सके।

इन सबके बीच, एक विशाल समाज पहले-जैसा आस्तिक बना रहा, जो वेदों तथा तन्त्रों के ईश्वरादेशों को दृढ़ता से मानता रहा। सौभाग्य से यह आस्तिक समाज आज भी देश में विद्यमान है और अपने धार्मिक सिद्धान्तों पर पूर्व-वत् ही अटल और अचल है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में 'बुद्धि-वादियों' का विलक्षण व्यापक प्रभाव होते हुए भी, 'मन्त्र-विद्या' सारे आस्तिक समाज में अपना प्रभाव बराबर बनाए रही।

यह सब कुछ रहा और आज भी है, परन्तु मूल वस्तु का अभाव हो गया है। 'मन्त्र-साधना' से साधक में जो तेजस्विता आती है, तप-तेज के प्रभाव से साधक का मुख-मण्डल जैसा कान्ति-मान् हो उठता है, उसका दर्शन होना दूर रहा, उनमें साधना-जन्य सत्याचरण और सदाचार के सु-लक्षण भी नहीं पाए जाते! ऐसा क्यों? इसका उत्तर स्पष्ट है। ये नाम-धारी आस्तिक बहुत कुछ बुद्धि-वादी हो गए हैं और इन्होंने वेदों, तन्त्रों के ईश्वरादेशों में कतर - ब्योंत करके, उन्हें अपनी रुचि के अनुसार बना लेना श्रेयस्कर समझा। फलतः ये कहीं के न रहे! न सच्चे 'बुद्धि - वादी' रहे और न सच्चे 'आस्तिक' ही।

(शेष पृष्ठ २१ के नीचे)

मन्त्र-शास्त्र का तात्पर्य

दैवी राज्य से सम्बन्ध युक्त शब्द को 'मन्त्र' कहते हैं। मन्त्रों में 'भगवान-नाम-वाचक मन्त्र' सर्व-श्रेष्ठ होते हैं। पूज्य-पाद महर्षियों ने कहा है कि सर्व-शक्तिमान् श्रीभगवान् का सबसे बड़ा आदि-वाचक नाम—'**प्रणव**' (ॐ) है। 'प्रणव'—त्रिगुणात्मक है। इसमें सृष्टि-कर्त्ता 'ब्रह्मा', सृष्टि-पालक 'विष्णु' और मुक्ति-दाता 'शिव'—विद्यमान हैं। इस कारण 'प्रणव' का जप करने और उसके अर्थ की भावना करने से साधक भगवान् के चरण-कमलों तक पहुँच जाता है।

जैसे 'प्रणव', परमात्मा का वाचक होने के कारण भगवान् के चरण-कमलों में पहुँचा देता है, वैसे ही मन्त्र-शास्त्रोक्त नाना 'बीज-मन्त्र' भी—दृश्य और अदृश्य रूप दोनों से सम्बन्ध कराकर, तत्तत् बीज से सम्बन्ध-युक्त दैवी-शक्तियों के निकट साधक को पहुँचा देते हैं। दर्शन-शास्त्र से भी सिद्ध है कि अन्तःकरण विश्व का माध्यम है और वह योग-युक्त तथा समाहित होने से विश्व-ब्रह्माण्ड के कोने-कोने में पहुँच सकता है।

'मन्त्र-शास्त्र' जैसे गहन विषय को समझने के लिए अन्तः-करण के स्वरूप, शक्ति और व्यापकता पर विचार करने की आवश्यकता है। अन्तःकरण के चार भेद हैं—**१ मन, २ बुद्धि, ३ अहङ्कार और ४ चित्त।** चारों मिलकर 'अन्तःकरण-चतुष्टय' कहलाते हैं। भगवान् ब्रह्मा अन्तःकरण के प्रधान अधिदैव हैं। अन्तःकरण चार विभागों में विभक्त होने से ही ब्रह्मा चतुर्मुख कहलाते हैं। अन्तःकरण के चार विभागों में से 'बुद्धि' और 'मन'—मुख्य हैं तथा 'चित्त' और 'अहङ्कार'—गौण हैं। इन्द्रियों को जो चलाता है, वह इन्द्रिय-राज 'मन' है और सद्-विचार के अनुसार जो 'मन' को समाहित करती है, वह 'मन' की गुरु—'बुद्धि' है। नाना वृत्तियों द्वारा जो 'मन' को नचाता है, वह 'चित्त' कहलाता है। प्रत्येक जीव-पिण्ड में स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापन करके, सर्व-व्यापक आत्म-तत्त्व को जो आवृत करता है, उसको 'अहङ्कार' कहते हैं। 'अहङ्कार' - 'बुद्धि' का अन्तर्विभाग है। विना अहङ्कार के बुद्धि कार्य नहीं कर सकती। 'चित्त' एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें स्मृति भी रहती है। पूर्व स्मृति के अनुसार 'चित्त' नाना विषयों को लाकर 'मन' को नचाया करता है। इसी से मन एक क्षण भी निश्चल नहीं रहता, चञ्चल बना रहता है।

'मन्त्र-शास्त्र' के साथ अन्तःकरण का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण 'तन्त्र-शास्त्र' में कहा है कि '**मन' का जो त्राण करे, वही 'मन्त्र' है।** 'मन्त्र' में जो शक्ति निहित रहती है, वह शक्ति 'मन्त्र'

(शेष पृष्ठ २० का)

यदि '**मन्त्र-विद्या**' की साधना शास्त्र-विधि के अनुसार ठीक-ठीक की जाए, तो हमारा देश पहले ही की तरह गौरवान्वित हो सकता है। पहले ही की तरह पुरुषार्थ तथा सुख और समृद्धि से परिपूर्ण होकर वह पहले जैसा स्वर्गोपम बन सकता है, परन्तु आज का हमारा 'बुद्धि-वाद', हमें द्रुत गति से योरप, अमरीका के उस प्रबल 'विज्ञान-वाद' की ओर खींचे लिए जा रहा है, जिसने स्वयं अपने जन्म-दाता को ही मृत्यु-शिला पर ला पटका है! खेद है, हमारे 'बुद्धि-वादी' योरप-अमरीका के विज्ञान के इस भीषण परिणाम को देख नहीं पा रहे हैं।

के आश्रय से अन्तःकरण में प्रकट हो जाती है। जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि रहती है, परन्तु अरणी के द्वारा मथी जाने से ही प्रकट होती है, उसी प्रकार योग-युक्त अन्तःकरण में व्यवस्थित रूप से 'मन्त्र-जप' होने से 'मन्त्र-शक्ति' प्रगट होकर कार्य करने लगती है।

निर्गुण 'प्रणव' (ॐ) मन्त्र हो, अथवा सगुण शक्ति-बीज (स्त्रीं), माया-बीज (ह्रीं) आदि हो अथवा शाखा-पल्लव से युक्त 'मन्त्र' हो—सबमें उस मन्त्र-सम्बन्धी सर्व-शक्ति विद्यमान् रहती है। वैदिक मन्त्र और लौकिक शाबर मन्त्र—दोनों के विनियोग में शक्ति-विकास का तारतम्य रहता है। वेदोक्त और तन्त्रोक्त अलौकिक मन्त्रों को सिद्ध करने में अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे स्वतः-सिद्ध अनादि मन्त्र हैं। निष्काम साधक को इन मन्त्रों से लाभ उठाने के लिए विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता, परन्तु साकार-रूप से सिद्धि प्राप्त करने के लिए विशेष परिश्रम की आवश्यकता होती है।

अन्तःकरण सर्व-व्यापक और योग-युक्त होने से सब जगह काम कर सकता है। इसका प्रधान कारण यह है कि पिण्ड तीन प्रकार के होते हैं—१ उद्भिजादि सहज-पिण्ड, २ नाना अधिकारों के पूर्णावयव जीव-रूपी मनुष्य-पिण्ड और ३ नाना श्रेणी के देवताओं के देव-पिण्ड। देव-पिण्डों में भूत-प्रेतादि और दानव-असुरादि पिण्ड भी आ जाते हैं। अन्तःकरण सर्व-व्यापक होने से वह इन सब पिण्डों में विद्यमान् है। अतः साधक यदि शक्ति-शाली हो और उसका अन्तःकरण योग-युक्त हो, तो वह चतुर्दश भुवनों के सब स्थानों और पिण्डों में—'मन्त्र-बल' से बलवान् होकर कार्य कर सकता है। यही 'मन्त्र-शास्त्र' का तात्पर्य है और यह अधि-दैव - बल विधि-पूर्वक 'जप' द्वारा प्राप्त हो सकता है। तन्त्र-शास्त्रों में इसकी अनेक प्रकार की विधियाँ पाई जाती हैं, जो विश्वास, श्रद्धा, गुरु-सेवा, अन्तःकरण—शुद्धि, बहिः-शुद्धि और दैवी-जगत् पर पूर्ण निर्भर रहने से सफल होती हैं।

मन्त्र-सिद्धि

(२)

'मन्त्र-सिद्धि' की अवस्था से कुछ पूर्व साधक को 'भय' होता है। यह 'भय' ही 'मन्त्र-सिद्धि' का मुख्य कारण है। 'भय' बिना सिद्धि नहीं होती। प्रायः 'सर्प' का भय होता है--दूर से एकदम भागा हुआ अपनी ओर आता हुआ दिखाई देता है। हालत ऐसी हो जाती है कि पत्ता खड़का, बन्दा भड़का! बात-बात में रोमाञ्च होने लगता है।

'सर्प' का दृष्टांत उत्तम कक्षा की 'मन्त्र-सिद्धि' को देनेवाला, विशेषकर 'आत्म-ज्योति' का प्रकाशक होता है। यह 'कुण्डलिनी' के अभ्युत्थान के समय में ही होता है और गले या छाती तक आकर गायब हो जाता है। गायब होने के बाद स्वप्न में उत्तम शब्दों का श्रवण, आशीर्वाद आदि की प्राप्ति होती है। तीन दिन तक इन बातों को किसी से भी न कहना चाहिए। यह समय 'मूलाधार' के बन्धन के खुलने का है। यह 'शक्ति-पात' का आरम्भ-काल और 'क्षरित सिद्धि' का उत्पादक समय होता है।

यदि साधक आगे साधना करता रहता है, तो उपर्युक्त 'मन्त्र-सिद्धि' स्थायी हो जाती है। अन्यथा वर्ष-दो-वर्ष के बाद गायब हो जाती है। ऐसी 'मन्त्र-सिद्धि' साधक को 'मन्त्र'—प्राप्ति के छः महीने के भीतर हो ही जानी चाहिए। इसके बाद साधक को कुछ समय के अन्तराल पर 'मन्त्र-पुरश्चरण' में लग जाना चाहिए, जिससे 'मन्त्र-सिद्धि' स्थायी हो जाए।

अथर्व-वेद और मन्त्र-विद्या

अथर्व-वेद में शारीरिक रोग, मानसिक पाप, उन्माद, दारिद्रय, निराशा को दूर करने तथा शत्रुओं को नष्ट करने के लिए 'मन्त्र'-सम्बन्धी सङ्कल्प, अभिमर्श, झाड़-फूंक, मार्जन, आदेश, कृत्या और अभिचार का प्रचुर वर्णन है। यथा—

१ मानसिक पाप दूर करने के लिए (अथर्व-वेद, ६।४५।१)

परोपेहि मनस्पाप ! किमशस्तानि शंससि ।

परेहि न त्वा कामये, वृक्षां वनानि संचर । गृहेषु गोषु मे मनः ।।

अर्थ--हे मन के पाप ! तू परे चला जा। तू निन्दित बातों को पसन्द करता है, दूर चला जा। मैं तुझे नहीं चाहता हूँ। वृक्षों को, वनों को प्राप्त हो। मेरा मन स्त्री-पुत्र-गौओं में रहे।

२ अभिमर्श (अथर्व-वेद, ४।१३। ६,७)

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्व-भेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ।।

हस्ताभ्यां दश-शाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।

अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां, ताभ्यां त्वामि मृशामसि ।।

अर्थ--हे रोगी ! यह मेरा हाथ भाग्यवान् और फलवान् है। यह मेरा दूसरा हाथ उससे भी अधिक यशस्वी है। यह मेरा हाथ समस्त रोगों का शमन-कारक औषध-रूप है। यह सुख-शान्ति के स्पर्श से युक्त है। दसों अँगुलियों-सहित आरोग्य-कारक दोनों हाथों से मैं तुझे स्पर्श करता हूँ तथा वाणी को अग्रसर करनेवाली जो मेरी जिह्वा है, उससे तुझे आदेश देता हूँ।

३ कामला-रोग दूर करने के लिए (अथर्व-वेद, १।२२।४)

शुकेषु ते हरिमाणं, रोपणाकासु दध्यसि । अथो हारिद्रवेषु ते, हरिमाणं निदध्यसि ।।

अथ—तेरे कामला-रोग को तोते तथा हरी-भरी दूब के पौधे में धरते हैं और तेरे इस रोग को दारु-हल्दी के वृक्ष में विलुप्त करते हैं।

४ वशीकरण के लिए (अथर्व-वेद, ३।८।६)

अहं गृह्णामि मनसा, मनांसि मम चित्तमनु-चित्तेऽभिरेत ।

मम वशेषु हृदयानि, वः कृणोमि मम यातमनु-वर्त्मनि एत ।।

अर्थ—मैं अपने मन से तुम्हारे मन को अपनाता हूं। मेरे चित्त के अनुकूल, अपने चित्त से चलो। मेरी विचार-धारा के अधीन, अपनी विचार-धारा करो। मैं अपने वश में तुम्हारे हृदय को करता हूँ। अब मेरे बतलाए मार्ग पर चलोगे।

५ उन्माद-रोग के लिए (अथर्व-वेद, ६।१११।२)

अग्निष्टे निशमयतु, यदि ते मन उद्युतम । कृणोमि विद्वान् भेषजं, यथाऽनुन्मदितोससि ।।

अर्थ—तेरा उच्चाट मन जो उखड़ गया है, अव्यवस्थित हो गया है, अग्नि उसे बिल्कुल शान्त और ठीक कर देगी। जिस प्रकार तू उन्माद-रहित हो जाए, यह जानते हुए चिकित्सा करता हूँ।

६ क्षय-रोग दूर करने के लिए (अथर्व-वेद, ५।३०।७-९,१६)

अनुहूतः पुनरेहि, विद्वानुदययं पथः। आरोहणमाक्रमणं, जीवतो जीवतोऽनयम् ।।
मा विभेर्न मरिष्यसि, जरादष्टिं कृणोमि त्वा । निखोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्ग-ज्वरं तव ।।
अङ्ग-भेदो अङ्ग-ज्वरे, यश्च ते हृदयामयः । यक्ष्मः श्येन इव प्राप तद् वाचा साढ़ः परस्तराम् ।।
इयमन्तर्वदति जिह्वा, बद्धा पनिष्पदा । त्वया यक्ष्मं निखोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ।।

अर्थ—हे रोगी ! तू मेरी ओर आकर्षित हो। मेरे कहने के अनुसार चलनेवाला बन। विद्वानों के समान जीवन-पथ के उदय-रूपी स्वास्थ्य को फिर प्राप्त कर। यही प्रत्येक जीवित रहनेवाले का लक्षण है। तू नहीं मरेगा, तुझे बुढ़ापे तक जीनेवाला बनाता हूँ और तेरे अङ्गों से पीड़ित करनेवाले क्षय-रोग को निकालता हूँ। अङ्गों को तोड़नेवाला, अङ्गों में ज्वर करनेवाला, फेफड़े-सहित हृदय को रोगी बनानेवाला यह तेरा क्षय-रोग मेरी वाणी से ताड़ित हुआ बाज पक्षी की भाँति तेरे शरीर से बाहर निकलकर नष्ट हो जाएगा। विद्युत् की भाँति पुनः-पुनः स्पन्दन करती हुई मेरी वाणी अन्दर से कह रही है। चिकित्सक द्वारा प्रेरित की हुई वाणी रोगी के यक्ष्मा-रोग को दूर हटा देती है।

७ मृत्यु से उबरने के लिए (अथर्व-वेद, ८।२।२)

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा, त्वा हरामि शत-शारदाय ।
अथ मुञ्चन् मृत्यु-पाशानशस्तिं, द्राघीम आयुः प्रतरं ते दधामि ।।

अर्थ—तू जीनेवालों की ज्योति को प्राप्त हो। तुझे सौ बरस तक जीवित रखने के लिए इधर इसी लोक में ले आता हूँ। मृत्यु के पाशों को तथा मन की अशक्त भावना को छुड़ाकर तुझे दीर्घ आयु धारण कराता हूँ।

८ शत्रु-सेना-संहार के लिए कृत्या का प्रयोग (अथर्व-वेद, ११।१०।६)

शिति-पदी संद्यतु, संख्ये इयं चतुष्पदी । कृत्ये ! मित्रेभ्यो भव, त्रिषन्धेः सह सेनया ।।

अर्थ—हे कृत्ये ! तू पृथ्वी, जल और आकाश में सम्बन्ध करनेवाले राजा की सेना-द्वारा छोड़ी हुई शत्रुओं के संहार के लिए हो। यह सेना, शर-हिंसक शस्त्रास्त्र फेंकने में योग्य, शीघ्र चलनेवाली पैदल, घोड़े, हाथी, विमान से सुसज्जित शत्रु-सेना को खण्डित करे।

सिद्ध तू महा है और काह में कहा है,
हेरि मोतन हहा है तू ही मेरे मनमानी है।
शर्न गहे तेरी रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।

(४)

काली कमला है तू कपालिनी अबला है,
भानु-माली की कला है तू ही ठीक ठकुरानी है।
बुद्धि बिशदा है साधु सिद्ध में सदा है,
प्रेत-प्रीति-प्रमदा है भ्रमदा तू बुद्धि-वानी है।
सबमें है बसी तू कबहूँ न बिनसनी तू,
लोक - बेद - विलसी तू शर्वानी ब्रह्मानी है।
चर्न गहे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।

(५)

श्यामा तू शची है माया-नटी नची तू है,
जल-थल में खची तू विरश्चि बुद्धि-बानी है।
क्षेमा तू क्षमा तू है असुर-सुर-नर माँ तू,
विद्या - वेद माँ तू ठौर-ठौर ठहरानी है।
सिंह - वाहिनी तू देह - दुःख - दाहिनी तू,
सदा रहे दाहिनी तू वामा वाम-देव मानी है।
आशा किहे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।

(६)

सिद्ध सुमुखी तू लोक - सुखदा सुखी तू,
विद्या वेद विदिसी तू हिय सबके समानी है।
तू ही राम रामा तू ही वाम-देव वामा,
रुकमिनी सत्यभामा तू ही कलि की कृपानी है।
रूपारूप रुचिरा है साहि बनी तू सिरा है,
भाषा - प्राकृत गिरा है तू गीर्वानी वानी है।
द्वार परे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब अवलम्ब मेरे एक तू भवानी है।

रजि सं० ३२६८१/५७ अप्रैल, १६६१ [रजि० सं० ए० डी० ६६
मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक : ऋतशील शर्मा, एम० ए०

(७)

चारो फल देनी सुर-पुर की निसैनी तू,
महेश मृग - नैनी मृदु-बैनी जग-रानी है।
श्यामा सुमुखी तू बाला बगलामुखी तू,
तारा तारा - पति - मुखी लोक-वेदन बखानी है।
तू ही भुवनेशी श्रीविद्या तू सुकेशी तू ही,
राज राजेशी तू छिन्नमस्ता महा-बानी है।
दारे परे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब ! अवलम्ब तेरे एक तू भवानी है।

(८)

मेरे एक तू है तोसों और को हितू हैं,
देत फड़ में फतू है कर कठिन कृपानी है।
तू ही चतुराई तू ही कीरति - बड़ाई,
मेरे साँकरे सहाई एक तू ही ठकुरानी है।
तेरे ही भरोसे रहौं प्रगट मगोसे रहौं,
और के न रोसे मन ऐसी अभिमानी है।
द्वार परे तेरे रहौं और के न नेरे,
जगदम्ब ! अवलम्ब तेरे एक तू भवानी है।

सप्त-श्लोकी चण्डी
अथवा
सप्त-श्लोकी दुर्गा
(मन्त्रात्मक विधान सहित)

मूल्य ३-००